कुत्सित-जीवन के संस्करणों की तालिका	
	पहला संस्करण १००० सन् १९३२
	दूसरा संस्करण २००० सन् १९३३
	तीसरा संस्करण २००० सन् १९३६

इस समय की गति बड़ी बलवती है। जहाँ पूर्व समय में इसी भारतके प्रत्येक मनुष्यका संयम-पूर्ण जीवन संसारके लिए आदर्श हो रहा था, वहाँ आज उसी भारत के निवासी, भोगविलास के शैतानी चक्कर में फँसे हुए पश्चिमी देशों के अधिवासियों के अनुगामी होते हैं। यहाँ का भी विषयी समाज सन्ततिनिरोध के कृत्रिम साधनों की ओर द्रुत-गति से बढ़ने लग गया है। देश का यह पतन महात्मा गांधी से नहीं देखा गया; अतः उन्होंने अपना अमूल्य समय लगाकर इस विषय पर एक पुस्तक लिख डाली। यह पुस्तक उसी का अनुवाद है।

कहना नहीं होगा कि इस विषय से मिलती-जुलती अब तक हिन्दी में जितनी पुस्तकें निकल चुकी हैं, उनसे यह पुस्तक सर्वथा भिन्न और अनूठी है। इसमें महात्माजी ने अपने ४० वर्ष के ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त अनुभव तथा आवश्यकतानुसार एवं विचार वैषम्य के कारण पुष्ट युक्तियों-द्वारा खण्डन करते हुए अनेक विद्वानों के ग्रन्थों का निष्कर्ष व्यक्त किया है। मानवजाति में नैतिक जीवन देनेवाली यह पुस्तक बड़ी ही सुन्दर है। इस पुस्तक में आप लिखते हैं—"यदि हम विवाह-बन्धन की पवित्रता को स्थिर रखना चाहते है, तो भोग नहीं वरन् आत्म-संयम ही जीवन का धर्म समझा जाना चाहिए।" "नर और नारी के बीच का स्वाभाविक सम्बन्ध वह है जो भाई और बहन में, माँ और बेटे में, बाप और बेटी में होता है" "अपनी सारी शक्ति लगाकर मुझे कहना ही पड़ेगा कि

पति-पत्नी के बीच भी काम का आकर्पण अस्वाभाविक और अप्राकृतिक है। विवाह का उद्देश्य दम्पति के हृदयों से विकारों को दूर कर उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है।" इन वाक्यों को पढ़कर हृदय गद्गद् हो जाता है।

इसमें पहली विशेपता यह है कि इसके पढ़ने से दाम्पत्यजीवन से अनभिज्ञ जनता पर भी संस्कार के बदले कुसंस्कार नहीं पड़ सकते और भुक्त-भोगियों के लाभ के विपय में तो कुछ कहना ही नहीं है; क्योंकि उनके लिए तो यह पुस्तक ही लिखी गई है। दूसरी विशेपता यह है कि पुस्तक पढ़ चुकने पर किसी प्रकार की शंका मन में नहीं रह जाती, जिसके समाधान की आवश्यकता हो। कारण यह है कि जब इस विपय पर महात्माजी "यङ्गइंडिया" में लिखते थे, तब बहुतों ने अपनी शंकाएँ और कठिनाइयाँ महात्माजी को लिखी थीं और उनके उत्तर महात्माजी को देने पड़े थे। उन सबका संग्रह स्थल-स्थल पर देने के कारण यह ग्रन्थ मानसशंकाओं और बाधाओं के समाधानों और यत्नों का बृहद् कोप बन गया है। इनके अतिरिक्त और विशेपताएँ विपय-सूची और पुस्तकावलोकन से ही मालूम हो सकेंगी। संक्षेप में यों कहना चाहिए कि पुस्तक ही अपना परिचय कराने में पूर्ण समर्थ हो सकती है।

सानुरोध—अब हिन्दी-प्रेमियों से प्रार्थना है कि वे 'बूढ़ेबाबा' के अनूठे उपदेशों और अनुभवों से भरी इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें और लाभ उठावें।

प्रकाशक—

नोट—सस्ता साहित्य मंडल द्वारा प्रकाशित "अनीति की राह पर" और "कुत्सित-जीवन" दोनों का विपय एक ही है, केवल नाम में ही हेर फेर है।

पहिला अध्याय	विपय प्रवेश	१
दूसरा अध्याय	अविवाहितों में भ्रष्टाचार	१३
तीसरा अध्याय	विवाहितों में भ्रष्टाचार	१७
चौथा अध्याय	संयम और ब्रह्मचर्य	२५
पाँचवाँ अध्याय	व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दलील	३२
छठाँ अध्याय	आजीवन ब्रह्मचर्य	३७
सातवाँ अध्याय	विवाह का पवित्र संस्कार	४२
आठवाँ अध्याय	उपसंहार	४५
नवाँ अध्याय	सन्तति-निग्रह	५२
दसवाँ अध्याय	संयम या स्वच्छन्दता	५५
ग्यारहवाँ अध्याय	ब्रह्मचर्य	६४
बारहवाँ अध्याय	सत्य बनाम ब्रह्मचर्य	६७
तेरहवाँ अध्याय	वीर्यरक्षा	७२
चौदहवाँ अध्याय	एकान्त-वार्ता	७७
पन्द्रहवाँ अध्याय	गुह्य प्रकरण	८२
सोलहवाँ अध्याय	ब्रह्मचर्य	९३
सत्रहवाँ अध्याय	नैष्ठिक ब्रह्मचर्य	९८
अठारहवाँ अध्याय	मनोवृत्तियों का प्रभाव	१०४
उन्नीसवाँ अध्याय	धर्मसंकट	१११

परिशिष्ट

बीसवाँ अध्याय	जनन और प्रजनन	११६
,,	प्राणि-शास्त्र में जनन	१६१

जीव-विद्या में प्रजनन	११८	मानस	१२६
प्रजनन और अचेतन	१२१	व्यक्तिगत संभोग-नीति	१२८
जनन और मृत्यु	१२३	सामाजिक संभोग-नीति	१३३
प्रजोत्पत्तिका बदला मौतहै	१२४	उपसंहार	१३६

नारी-धर्म-शिक्षा

पर

सुप्रसिद्ध साप्ताहिक "प्रताप" क्या लिखता है—

लेखिका श्रीमती मनव्रता देवी। प्रकाशक श्री एस० बी० सिंह एण्ड को०, बनारस सिटी। पृष्ठ संख्या १५६, मूल्य १)

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है। इसमें बाल-शिक्षा, गृह-कार्य, दिन-चर्या, घर वालों के साथ बर्ताव, सन्तान-पालन, रोग-चिकित्सा, भोजन-निर्माण-विधि आदि विषयों पर संक्षेप में सात अध्यायों में विचार किया गया है। पुस्तक स्त्रियों के काम की है और साधारण पढ़ी-लिखी स्त्रियों को इससे बहुत कुछ जानकारी हो सकती है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

साप्ताहिक "प्रताप" की सम्मति

लेखक—श्री सूर्यबली सिंह, प्रकाशक-एस० बी० सिंह एण्ड को०, बनारस सिटी। पृष्ठ १५४, मूल्य १)

"ब्रह्मचर्य की महिमा" में ब्रह्मचर्य की महिमा, ब्रह्मचर्य से लाभ, विभिन्न प्रकार के मैथुन, स्कूलों और कालेजों में दुराचार, ब्रह्मचर्य-पालन की विधियाँ, आहार, शिक्षा, माता-पिता के कर्तव्य आदि बातों पर प्रकाश डाला गया है। अब तक इस विषय की कई पुस्तकें निकल चुकी हैं। फिर भी ऐसे महत्व-पूर्ण विषय पर अनुभव और योग्यता के साथ जितना अधिक प्रकाश डाला जाय, उत्तम है। इस पुस्तक में उपरोक्त विषयों पर अच्छी तरह प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। पुस्तक नवयुवकों के पढ़ने लायक है।

—"प्रताप"

नित्य प्रातःकाल आश्रमवासियों के साथ

प्रार्थना में गाया जाने वाला

महात्मा गान्धीजी का

प्यारा भजन

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे;
परदुःखे उपकार करे तो ये,—मन अभिमान न आणे रे। ध्रु०।
सकल लोकमां सहुने वंदे,—निंदा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे।१।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।२।
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामनाम शूं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।३।
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे 'नरसैंयो' तेनुं दर्सन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे।४।

—नरसिंह मेहतो

कुत्सित जीवन और

दाम्पत्य-विमर्ष

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

बनावटी उपायों से सन्तान की बढ़ती रोकने के पक्ष में देशी समाचार-पत्रों में जो लेख निकलते हैं, कृपालु मित्र उनकी कतरनें मेरे पास भेजते रहते हैं। नवयुवकों से उनके चारित्र्य के सम्बन्ध में मेरा पत्र-व्यवहार भी बहुत होता रहता है; किन्तु उन सब समस्याओं को, जो इस पत्र-व्यवहार से उठती हैं, मैं यहाँ पर हल नहीं कर सकता। यहाँ तो कुछ की ही विवेचना हो सकती है। अमेरिकन मित्र भी मेरे पास इस सम्बन्ध का साहित्य भेजते हैं और कुछ तो मुझसे इस कारण अप्रसन्न भी रहते हैं कि मैं इन बनावटी उपायों का विरोध करता हूं। उन्हें रंज है कि ऐसा बढ़ा-चढ़ा सुधारक होते हुए भी संतति-निरोध के सम्बन्ध में मैं पुराने ही विचार

रखता हूं। और, फिर मैं यह भी देखता हूं कि ऐसे उपायों के तरफ-दारों में सब देशों के कुछ बड़े-बड़े विचारवान् स्त्री-पुरुष भी हैं।

यह सब देखकर मैंने सोचा कि संतति-निरोध के इन बनावटी उपायों की तरफदारी में कुछ-न-कुछ विशेष बात अवश्य होगी और इसलिये मुझे इसपर अधिक विचार करना चाहिए। मैं इस समस्या पर विचार कर रहा था और इस विषय का साहित्य पढ़ने के विचार में ही था कि मुझे एक अंग्रेज़ी पुस्तक पढ़ने को मिली। इस पुस्तक में इसी बात पर वैज्ञानिक रीति से विचार किया गया है। पुस्तक का नाम है—Towards Moral Bank-ruptcy *। मूल पुस्तक फ्रान्सीसी भाषा में है और उसके लेखक हैं श्री० पाल ब्यूरो। किताब का जो नाम फ्रेञ्च भाषा में है उसका शब्दार्थ है 'भ्रष्टाचार'।

पुस्तक पढ़कर मैंने सोचा कि लेखक के विचारों पर अपनी सम्मति देने से पहिले इन उपायों के समर्थक मुख्य-मुख्य ग्रन्थों को पढ़ डालूँ; इसलिये मैंने 'सर्वेण्ट आव् इण्डिया सोसाइटी' से इस विषय पर लिखे हुए जो कुछ ग्रन्थ मिल सके, मँगाकर पढ़े। काका कालेलकर ने, जो इस विषय का अध्ययन कर रहे हैं, मुझे एक पुस्तक दी और एक मित्र ने 'दी प्रेक्टिश्नर' का एक विशेषांक मेरे पास भेज दिया, जिसमें विख्यात डाक्टरों ने इस विषय पर अपनी सम्मतियाँ प्रकट की हैं।

इस विषय का साहित्य इकट्ठा करने से मेरा केवल यही प्रयोजन था कि मैं अपने वैद्यक-ज्ञान से रहित शक्ति के अनुसार

* प्रकाशक Constable and company; इसकी भूमिका डॉ. मरी स्कारलिब C. B. E. M. D., M. S. (Lond.) ने लिखी है। पृष्ठ-संख्या ५३८ और कुल अध्याय ५ हैं।

'ब्यूरो' के सिद्धान्तों की जाँच कर लूँ। प्रायः देखा जाता है कि किसी मुख्य विषय के दो आचार्य ही किसी प्रश्न पर क्यों न विचार कर रहे हों, किन्तु सभी प्रश्नों के दो पहलू होते ही हैं और दोनों पर बहुत-कुछ कहा जा सकता है। इसीलिये मैं पाठकों के सामने 'ब्यूरो' की यह पुस्तक रखने से पहले इन बनावटी उपायों के पक्षवालों की सभी युक्तियाँ सुन लेना चाहता था। बहुत सोच-विचार कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूं कि कम-से-कम भारतवर्ष के लिये तो ऐसे उपायों की कोई आवश्यकता है ही नहीं। जो लोग भारतवर्ष में इन उपायों का प्रचार करना चाहते हैं, उन्हें या तो इस देश की दशा का यथार्थ ज्ञान नहीं है, या वे जान बूझ कर उसकी पर्वा नहीं करते। और फिर यदि यह सिद्ध हो जाय कि ये उपाय पाश्चात्य देशों के लिये भी हानिकारक हैं, तब तो भारतवर्ष की दशा पर विचार करने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

आइए, देखें 'ब्यूरो' का कथन क्या है। उन्होंने फ्रान्स की दशा पर ही विचार किया है; परन्तु यह भी हमारे मतलब के लिये बहुत काफी है। फ्रान्स की गणना संसार के सबसे अगुआ देशों में है, और, जब वहाँ पर ही ये उपाय सफल न हुए, तो फिर और कहाँ हो सकते हैं?

असफलता क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक मत हो सकते हैं; इसलिए अच्छा है कि 'असफल' शब्द से मेरा जो अभिप्राय है, मैं उसकी व्याख्या कर दूँ। यदि यह बात सिद्ध कर दी जाय कि इन उपायों के कारण लोग नैतिक दृष्टि से आचार-भ्रष्ट हो गये, उनमें व्यभिचार बढ़ गया और कृत्रिम गर्भ-निरोध केवल अपनी स्वास्थ्य-रक्षा अथवा गृहस्थियों की आर्थिक दशा को ठीक रखने की इच्छा से ही नहीं किया गया, वरन् अपनी

कुचेष्टाओं की पूर्ति के लिये किया गया, तो इन उपायों की असफलता मान ली जायगी। यह तो हुई मध्यस्थ पक्ष की; बात पर सबसे ऊँचे सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जाय, तो कृत्रिम गर्भ-निरोध को कहीं स्थान ही नहीं है। उसके अनुसार तो विषय-भोग केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से ही करना चाहिए, जैसे कि भोजन केवल शरीर-रक्षा के लिये ही करना चाहिए। एक तीसरी श्रेणी के मनुष्य भी हैं, जिनका कहना है—'नैतिक आचार-विचार सब व्यर्थ हैं, और यदि नैतिक आचार कोई वस्तु है भी, तो उसका अर्थ विषयभोग का संयम नहीं, बल्कि उसकी तृप्ति ही है। खूब विषयभोग करो, विषयभोग ही जीवन का उद्देश्य है। बस, इतना ध्यान रहे कि विषयभोग से शारीरिक स्वास्थ्य इतना न बिगड़ जाय, जिसके उद्देश्य अर्थात् विषयभोग की पूर्ति में अड़चन पड़े।' ऐसे लोगों के लिये, मेरी समझ में 'ब्यूरो' ने यह पुस्तक नहीं लिखी है; क्योंकि अपनी पुस्तक के अन्त में उन्होंने 'टौ मैन' के ये शब्द लिखे हैं—'केवल सच्चरित्र जातियों का ही भविष्य उज्ज्वल है।'

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में 'मोंशिये ब्यूरो' ने कुछ ऐसी सच्ची-सच्ची बातें हमारे सामने रक्खी हैं, जिन्हें पढ़कर कलेजा काँप उठता है। फ्रान्स में ऐसी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ बन गई हैं, जिनका एक-मात्र काम लोगों की पशु-वृत्ति को तृप्त करना ही है। सबसे बड़ा दावा जो कृत्रिम उपायों के हिमायतियों का है, वह यह है कि इससे लुक-छिपकर गर्भपात का होना रुक जायगा और भ्रूणहत्या बच जायगी; किन्तु उनका यह दावा भी सही साबित नहीं होता। 'ब्यूरो' लिखते हैं कि फ्रान्स में यद्यपि पिछले २५ वर्षों से गर्भस्थिति न होने के उपाय लगातार किये जाते रहे, किन्तु फिर भी गर्भपात उलटे अधिक होने लगे।

उनका अनुमान है कि प्रतिवर्ष लगभग २,७५,००० से लेकर ३,२५,००० तक गर्भपात होते हैं। खेद तो इस बात का है कि लोगों को अब ऐसी बातें सुनकर उतनी चोट नहीं पहुँचती, जितनी पहले पहुँचा करती थी।

दूसरा अध्याय

अविवाहितों में भ्रष्टाचार

'ब्यूरो' कहते हैं कि गर्भपात के कारण बाल-हत्या, परिवार में ही व्यभिचार और ऐसे-ऐसे अनेकों पाप बढ़ गये हैं, जिनको देखकर छाती फटती है! यद्यपि अविवाहिता माताओं के गर्भपात रोकने और गर्भ गिराने के लिये अनेक प्रकार की सुविधाएँ हो गई हैं, तथापि उनसे भ्रूणहत्या घटी नहीं; बल्कि बहुत बढ़ गई है। यहाँ तक कि अब ऐसी बातें सुनकर सभ्य कहलाने वाले पुरुषों के कान पर जूँ भी नहीं रेंगती और अदालतों से धड़ाधड़ 'निरपराधों' के फैसले हो जाते हैं। भ्रूणहत्या करनेवाली माताओं को कुछ भी दण्ड नहीं दिया जाता।

'ब्यूरो' ने केवल अश्लील साहित्य पर ही एक अध्याय लिखा है। उनका कहना है कि साहित्य, नाटक और चित्र इत्यादि का, जो मनुष्य के मन को आनन्द और आराम देने के लिये हैं, बुरी नीयतवाले बड़ा ही दुरुपयोग कर रहे हैं। हर जगह ऐसा साहित्य बिक रहा है, हर कोने में उसी की चर्चा हो रही है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे ही साहित्य का व्यापार करते हैं; करोड़ों

रुपये इस व्यापार में लगे हुए हैं। मनुष्यों के हृदयों पर इस साहित्य का इतना विषमय प्रभाव पड़ा है कि उनके मन में विषय-भोग का एक और नया काल्पनिक संसार बन खड़ा हुआ है।

इसके बाद 'ब्यूरो मोंशियो' 'रुइसन' के ये रोमांचकारी वाक्य उद्धृत करते हैं—

"इस अश्लील साहित्य से अगणित लोगों को अपरिमित हानि पहुँच रही है। इसकी बिक्री से पता लगता है कि लाखों-करोड़ों मनुष्य इसका अध्ययन करते हैं। पागलखानों के बाहर भी करोड़ों पागल रहते हैं! जिस प्रकार पागल अपनी एक निराली ही दुनिया में रहता है, उसी प्रकार, अखबारों और किताबों के दुरुपयोग के इस जमाने में, उन्हें पढ़ते समय, मनुष्य भी एक नई दुनिया में रहता है और इस संसार के सारे उत्तर-दायित्व को भूल जाता है। अश्लील साहित्य के पढ़नेवाले अपने विचारों के अश्लील संसार में भटकते फिरते हैं।"

इन सब दुष्परिणामों का कारण क्या है? इन सबकी जड़ में लोगों की यही भूल है कि 'विषयभोग किये बिना चल ही नहीं सकता और बिना इसके मनुष्य का पूर्ण विकास भी नहीं हो सकता।' ऐसा विचार हृदय में आते ही मनुष्य की दुनिया पलट जाती है। जिसको अब तक वह बुराई समझता था, उसे अब भलाई समझने लग जाता है और अपनी पाशविक इच्छाओं की तृप्ति के लिये नये-नये उपाय ढूँढ़ने लगता है।

आगे चलकर अध्याय, पृष्ठ और कविताओं के उद्धरण देकर 'ब्यूरो' ने यह सिद्ध किया है कि आजकल दैनिक पत्रों, मासिक पत्रिकाओं, पुस्तिकाओं, उपन्यासों और तसवीरों-द्वारा लोगों की इस अधम प्रवृत्ति को दिन-प्रति-दिन उत्तेजन ही मिलता जाता है।

पर अभी तक तो 'ब्यूरो' ने केवल अविवाहित लोगों की ही दुर्दशा दिखाई है। अब आगे चलकर वे विवाहित लोगों के भ्रष्टाचार का भी दिग्दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं कि अमीरों, किसानों और मध्यम श्रेणी के लोगों में विवाह अधिकतर या तो झूठी प्रतिष्ठा या धन के लालच के कारण होते हैं। कोई अच्छी-सी नौकरी, जायदाद, पुराने व्यभिचार को नीति के आवरण से ढकना, व्यभिचार से उत्पन्न होने वाली सन्तति को कानूनन् उत्तराधिकारी बनाना और बुढ़ापे तथा बीमारी के समय किसी की सेवा प्राप्त करना, इत्यादि भिन्न भिन्न उद्देश्यों से विवाह किये जाते हैं। कभी-कभी मनुष्य व्यभिचार से थककर भी थोड़े संयतरूप में, विषय-भोग का जीवन बिताने के लिये विवाह कर लेते हैं।

आगे चलकर 'ब्यूरो' सच्चे-सच्चे प्रमाण देकर यह दिखलाते हैं कि ऐसे विवाहों से व्यभिचार कम होने के बदले उलटा और बढ़ता है। इस पतन में वे कृत्रिम उपाय तथा साधन और भी सहायक होते हैं, जो व्यभिचार रोकते तो नहीं, किन्तु उससे होने वाले परिणाम को रोक लेते हैं। मैं उस दुःखद भाग को छोड़ देता हूं, जिसमें बतलाया गया है कि गत २० वर्षों के अन्दर परस्त्री-गमन की कितनी वृद्धि हुई है और अदालतों द्वारा दिये गये तलाकों की संख्या दोगुनी हो गई है! 'मनुष्य के समान ही स्त्रियों के भी अधिकार होने चाहिएँ'—इस सिद्धान्त के अनुसार स्त्रियों को विषयभोग करने की जो स्वतन्त्रता दे दी गई है, उसके सम्बन्ध में भी मैं केवल एक ही दो शब्द कहूंगा। गर्भपात करा देने की क्रियाओं में जो प्रसिद्धि प्राप्त कर ली गयी है, उसके पुरुष या स्त्री किसी के लिये भी संयम के बन्धन की आवश्यकता ही नहीं रह गई। फिर, लोग यदि विवाह के नाम पर हँसें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? एक लोकप्रिय लेखक के ये वाक्य 'ब्यूरो'

उद्धृत करते हैं—'मेरे विचार से विवाह एक बड़ी जङ्गली और क्रूर प्रथा है। जब मनुष्य-जाति समझ और न्याय की ओर पग बढ़ावेगी तो इस कुप्रथा को अवश्य ठुकराकर चकनाचूर कर डालेगी·········परन्तु पुरुष इतने बुद्धू और स्त्रियां इतनी कायर हैं कि वे उच्च सिद्धान्त के लिये कुछ कर ही नहीं सकतीं।

'व्यूरो' अब इन दुराचरणों के फलों पर और उन सिद्धान्तों पर जिनसे इन दुराचरणों की पुष्टी की जाती है, सूक्ष्म विचार करके कहते हैं—'यह भ्रष्टाचार हमें एक नई दिशा में लिये जा रहा है। वह कौन-सी दिशा है? वहाँ क्या है? हमारा भविष्य प्रकाशमय होगा या अन्धकारमय? उन्नति होगी या अवनति? हमारी आत्मा को सुन्दरता के दर्शन होंगे या कुरूपता और पशुता की भयङ्कर मूर्ति दिखाई देगी? यहाँ तो क्रान्ति फैली हुई है! क्या यह वही क्रान्ति है, जो समय-समय पर देश और जातियों के उत्थान से पहले मचा करती है और जिसमें उन्नति का बीज रहता है? अथवा यह वही क्रान्ति है, जो आदम के हृदय में उठी थी और जो हमें अपने जीवन के बहुमूल्य और आवश्यक सिद्धान्तों को तोड़ने के लिये भी उभाड़ती है? क्या इससे हम अपनी शान्ति और जीवन को ही खतरे में नहीं डाल रहे हैं?' फिर 'व्यूरो' यह दिखलाते हैं और इसके पक्ष में प्रमाण भी उपस्थित करते हैं कि अब तक इन सब बातों से समाज को बेहिसाब हानि पहुँची है। ये दुराचार तो हमारे जीवन की जड़ को ही काट रहे हैं।

तीसरा अध्याय

विवाहितों में भ्रष्टाचार

विवाहित स्त्री-पुरुषोंका ब्रह्मचर्य-द्वारा गर्भ-निरोध करना एक बात है और विषयभोग के साथ-साथ तथा उसके परिणाम से बचानेवाले साधनों की सहायता से सन्तान-निग्रह करना बिलकुल दूसरी। पहली दशा में मनुष्य का केवल लाभ ही लाभ है, और दूसरी दशा में हानि के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। 'ब्यूरो' ने आँकड़ों और मानचित्रों की सहायता से यह दिखलाया है कि पाशविक वृत्तियों की लगाम ढीली करने और फिर संभोग के स्वाभाविक परिणामों से बचने के उद्देश से गर्भ-निरोध के नकली साधनों के बढ़ते हुए प्रयोग का फल यह हुआ है, कि केवल पेरिस में ही नहीं, वरन् समस्त फ्रांस में, मृत्यु-संख्या की अपेक्षा जन्म-संख्या में बहुत कमी हो गई है। ८८ जिलों में से, जिनमें फ्रांस विभाजित है, ६८ में पैदाइश की औसत, मौत की औसत से कम है और वहाँ यदि १०० बच्चे जन्म लेते हैं, तो १६८ आदमी मरते हैं। उसके बाद टानगरा नामक एक जिले में प्रत्येक १०० जन्मों के पीछे १५६ मृत्यु होती हैं। उन १९ जिलों में, जिनमें कहीं-कहीं, अनुपात से, जितने मरते हैं, उससे अधिक जन्म लेते हैं; वहाँ भी इन दो संख्याओं का यह अन्तर बहुत ही थोड़ा है। ऐसे केवल दस ही जिले हैं, जहाँ जन्म और मृत्यु की संख्या में भारी अन्तर है। कम-से-कम मौतें, अर्थात् जहाँ जन्म-संख्या के साथ मृत्यु-संख्या का अनुपात ७२-१० का है, 'मोरबिहान' और 'पासडिकैले' में पाई जाती हैं। 'ब्यूरो' यह बतलाते हैं कि

आवादी के कम होते जाने का यह क्रम, जो उनकी समझ में 'आत्महत्या' कहलायेगा, अभी तक रोका नहीं जा सका है।

तदनन्तर 'ब्यूरो' फ्रांस के प्रान्तों की दशा का प्रत्येक अंग लेकर निरीक्षण करते हैं और सन् १९१४ ई० में लिखे गये एक ग्रन्थ से नॉरमैंडी के बारे में निम्नलिखित वाक्य उद्धृत करते हैं– नॉरमैण्डी की आवादी गत ५० वर्षों में ३ लाख कम हो गई है। इसका अर्थ यह है कि वहाँ की उतनी आवादी कम हो गई है जितनी समस्त ओर्न जिले की है। प्रत्येक बीस वर्ष में फ्रांस की जन-संख्या इतनी घट जाती है, जितनी कि उसके एक सूबे की होती है। और चूँकि उसमें केवल पाँच ही सूबे हैं, इसलिये सौ वर्षों में तो उसके हरे-भरे खेत फ्रांस-निवासियों से खाली ही हो जायँगे। 'फ्रांसनिवासी' शब्द का यहाँ मैं जानबूझ कर प्रयोग कर रहा हूं, क्योंकि दूसरे लोग अवश्य ही उसमें आकर बस जायँगे और यदि ऐसा हुआ तो वह स्थिति शोचनीय हो जायगी। जर्मन लोग केन के आस-पासवाली लोहे की खानें चला रहे हैं और हमारे देखते ही देखते चीन के (उनका यह पहला ही अवसर है) मजदूर भी उस स्थान पर आ पहुँचे हैं, जहाँ से विजेता विलियम ने इङ्गलैंड जीतने के लिये प्रस्थान किया था।' ब्यूरो ने इस वाक्य की आलोचना करते हुए लिखा है कि दूसरे कई प्रांतों की भी दशा इससे कुछ अच्छी नहीं है। आगे चलकर वह यह दिखलाने का भी प्रयत्न करते हैं कि जनसंख्या की इस कमी का यह प्रभाव पड़ा है कि राष्ट्र की सैनिक-शक्ति भी घट गई है। तदुपरान्त वह फ्रांस के जातीयसंख्या-विकास, उसकी भाषा और सभ्यता के अवसान का भी यही कारण बतलाते हैं।

इसके पश्चात् वह पूछते हैं कि क्या विषयभोग से—संयम के त्याग से, फ्रांसीसी लोग सांसारिक सुख, आर्थिक उत्कर्ष,

शारीरिक स्वास्थ्य तथा सभ्यता में पहले से कुछ बढ़ गये हैं ? इसके उत्तर में उनका कहना है कि स्वास्थ्य की वृद्धि के विषय में दो-चार शब्द ही पर्याप्त होंगे। सभी युक्तियों का, क्रमबद्ध रूप से, उत्तर देने की हमारी इच्छा चाहे जितनी प्रबल क्यों न हो, फिर भी इस बात को, कि निरंकुश विषय-भोग से कभी शारीरिक स्वास्थ्य का सुधारना सम्भव है—हम इस योग्य भी नहीं समझते कि इसका उत्तर तक दिया जाय। चारों ओर से क्या नवयुवकों, क्या सयाने पुरुषों, सभी किसी की निर्बलता की चर्चा सुनाई पड़ती है। लड़ाई के पहले सैनिक विभाग के अधिकारियों को कई बार रंगरूटों के लिये शारीरिक योग्यता की शर्तें ढीली करनी पड़ी थीं। और सारे देश में लोगों की सहन-शक्ति में बहुत कमी हो गई है। अब यह कहना निस्सन्देह अन्याय होगा कि असंयम ने ही यह बुरी अवस्था उत्पन्न की है। परन्तु हाँ, वह भी इसका एक बड़ा कारण अवश्य है। साथ ही साथ मद्य-पान, रहन-सहन की गंदगी इत्यादि का भी तो स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु यदि हम ध्यान-पूर्वक विचार करेंगे, तो यह बात हमारी समझ में सरलता से आ जायगी कि इस भ्रष्टाचार और इसकी पोषक घृणित भावनाओं का इन अवज्ञाओं से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। जननेन्द्रिय-सम्बन्धी रोगों के भयङ्कर विस्तार ने सर्वसाधारण के स्वास्थ्य को बड़ी भारी क्षति पहुँचाई है। कुछ लोग (जैसे कि 'माल्थस') का विचार है कि जिस समाज में जन्म-मर्यादा का ध्यान रक्खा जाता है, उसमें देश की सम्पत्ति उसी हिसाब से बढ़ती जाती है, जिस हिसाब से वहाँ जन्मवृद्धि पर अंकुश रक्खा जाता है। लेकिन 'ब्यूरो' इस विचार का समर्थन नहीं करते। इसके विरुद्ध वह अपने विचार का समर्थन जर्मनी और फ्रांस की हालतों को लेकर इस प्रकार करते हैं कि जर्मनी में

जहाँ औसत से, जन्मों की अपेक्षा मृत्यु कम होती हैं, राष्ट्र की संपत्ति वढ़ती जाती है और फ्रांस में, जहाँ जन्म की संख्या मृत्यु की संख्या की अपेक्षा कम है, धन का ही अभाव वढ़ता जारहा है। उनका कहना है कि जर्मनी के व्यापार के आश्चर्यजनक फैलाव का कारण अन्य देशवालों की अपेक्षा जर्मन मजदूरों का कोई अधिक वलिदान नहीं है। वह रेसीनोल' का एक वाक्य उद्धृत करते हैं- 'जर्मनी की जन-संख्या जिस समय केवल ४,१०,००००० थी, लोग भूखों मर गये। मगर जव से उसकी आवादी ६,८०,००००० हुई है, तव से वह दिन-प्रति-दिन धनवान् होता जा रहा है।' उनका यह भी कथन है कि जर्मन लोग, जो किसी प्रकार के विरागी नहीं हैं, सेविंग वैंकों में प्रतिवर्ष रुपया जमा करने में समर्थ हुए हैं! सन् १९११ ई० में उनके वाइस अरव फ्रैंक (फ्रांस का सिक्का) वैंकों में जमा थे, जव कि सन् १८९५ ई० में उन्हीं के केवल ८ अरव जमा थे; अर्थात् हर साल उनके हिसाव में साढ़े आठ करोड़ और जमा होते गये।

'व्यूरो' ने इस वात को अवश्य स्वीकार किया है कि जर्मनी की यह सव आश्चर्यजनक उन्नति केवल इसी कारण नहीं हुई है कि वहाँ जन्म की संख्या मृत्यु-संख्या से अधिक है। उनका यह आग्रह है—और वह ठीक है—कि अन्य प्रकार की सुविधाओं के होते हुए, यह तो विलकुल स्वाभाविक ही है कि जन्म-संख्या के वढ़ने के फलस्वरूप राष्ट्रीय उन्नति भी हो। वास्तव में यह जो वात सिद्ध करना चाहते हैं, वह यह है कि जन्म-संख्या के वढ़ते जाने से आर्थिक तथा नैतिक उन्नति का रुकना कुछ आवश्यक नहीं है। जहाँ तक जन्म-प्रतिशत से सम्वन्ध है, वहाँ तक हम हिन्दुस्तानी लोग फ्रान्स की स्थिति में कदापि नहीं हैं। परन्तु यह कहा जा सकता है कि जर्मन की तरह हिन्दुस्थान में भी जन्म-संख्या का

बढ़ते जाना राष्ट्रीय जीवन के लिये सहायक न होगा। परन्तु मैं 'ब्यूरो' के अंकों, सतर्क विचारों तथा निष्कर्षों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दुस्तान की परिस्थित पर फिर कभी विचार करूँगा।

जर्मन परिस्थितियों पर, जहाँ जन्म-प्रतिशत का आधिक्य है, विचार करने के अनन्तर 'ब्यूरो' कहते हैं—'क्या हमें यह नहीं विदित है कि यूरोप में फ्रान्स का स्थान चौथा है; किन्तु राष्ट्रीय संपत्ति के विचार से तीसरे स्थानवाले देश से बहुत नीचे है? फ्रान्स-राष्ट्र की निजी सालाना आमदनी ढाई हजार करोड़ फ्रैंक है और जर्मन लोगों की पाँच हजार करोड़ फ्रैंक। हमारे राष्ट्र ने पैंतीस वर्षों में—यानी १८७९ से १९१४ तक—चार हजार करोड़ फ्रैंक का घाटा सहन किया है। देश के समस्त विभागों में खेतों में काम करने वाले आदमियों की कमी है, और किसी-किसी जिले में तो पुराने आदमियों को छोड़कर कोई भी नया आदमी दिखाई नहीं देता। और आगे चलकर वह लिखते हैं कि भ्रष्टाचार और कृत्रिम वंध्यात्व के अर्थ ये हैं कि समाज की स्वाभाविक शक्तियाँ क्षीण हो जाँय और सामाजिक जीवन में वृद्ध पुरुषों के निःशंक का प्राधान्य रहे। फ्रान्स प्रति १०० आदमियों में बच्चे और युवक मिलाकर केवल १८ हैं, जब कि जर्मनी में २२ और इङ्गलैण्ड में २१ हैं। युवकों की अपेक्षा वृद्धों का अनुपात उचित से अधिक बढ़ा हुआ है, और दूसरे लोगों में भी, जिन्होंने अपने भ्रष्टाचार से जवानी में ही बुढ़ापा बुला लिया है, नैतिक रूप से हत-तेज जाति की सभी प्रकार की कापुरुषता विद्यमान है।

लेखक यह भी कहते हैं कि हमें मालूम है कि फ्रान्स देश के लोगों में अधिकांश शासक-वर्ग इस शिथिल नीति के प्रति उदासीन है, क्योंकि उसकी समझ में यह जानने की कोई आवश्यकता नहीं

है कि किसकी खानगी जिन्दगी कैसी है। 'लियोपोल्ड मोनो' का निम्नलिखित कथन वह बड़े खेद के साथ उद्धृत करते हैं—

'अत्याचारियों पर गन्दी गालियों की बौछार करने तथा अत्याचार से पीड़ित लोगों के बन्धन काटने के लिये युद्ध करना सराहनीय अवश्य है; किन्तु उन लोगों के बारे में क्या किया जाय जो या तो भय के कारण या लालच से अपनी आत्मा की रक्षा नहीं कर सके हैं—या उनके विषय में जिनका साहस पीठ ठोंक जाने या त्योरी बदलने पर बढ़-घट सकता है, अथवा उन आदमियों के विषय में जो शर्म और लिहाज को बालाए-ताक कर अपनी उस शपथ को तोड़ते हैं, जो उन्होंने अपनी यौवनावस्था में खुशी और संजीदगी के साथ अपनी पत्नी के साथ की थी और उलटे अपने कृत्यों पर प्रसन्न होते हैं, तथा उन आदमियों के विषय में, जो अपने निज के निरंकुश स्वार्थ के शिकार बनकर अपनी गृहस्थी को दुःखमय बनाते हैं? ऐसे मनुष्य भला हमारे मुक्ति-दाता क्योंकर बन सकते हैं?'

लेखक और आगे चलकर कहते हैं—

'इस तरह चाहे जिधर दृष्टि डालकर देखें, हमें यह मालूम होगा कि हमारे नैतिक असंयम के कारण व्यक्ति, गृह तथा समाज को भारी चोट पहुँच रही है और हमने स्वयँ ही अपने सिर बड़ी भारी आफत मोल ले रक्खी है। हमारे युवकों के व्यभिचार ने, गन्दी पुस्तकों तथा तसवीरों ने, धन के उद्देश्य से विवाह करने की प्रथा ने, मिथ्याभिमान, विलासिता तथा तलाक ने, कृत्रिम वंध्यात्व और गर्भपात ने, राष्ट्र को अपंगु कर दिया तथा उसकी बढ़ती को मार दिया है। व्यक्ति अपनी शक्ति को संचित नहीं रख सका है और बच्चों की जन्म-संख्या की कमी के साथ-साथ क्षीण और दुर्बल सन्तति उत्पन्न होने

लगी है। 'यदि पैदाइशें कम हों, तो बच्चे अच्छे होंगे',—यह उक्ति उनलोगों को प्रिय लगा करती थी, जिन्होंने अपने को वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के स्थूल भाव में परिमित मानकर यह समझ रक्खा था कि मनुष्यों की उत्पत्ति भी भेड़-बकरी के उत्पादन की भांति मानी जा सकती है। ऐसे ही लोगों को 'आगस्ट कौम्टेने तीव्र व्यङ्ग से कहा था कि सामाजिक दोषों के ये नकली चिकित्सक व्यक्तियों तथा समाज के मानस की गूढ़ जटिलता को तो समझने में सर्वथा असमर्थ हैं, हाँ, यदि ये पशु-वैद्य होते, तो अच्छा होता।

'सच तो यह है कि उन तमाम मनोवृत्तियों में, जिन्हें आदमी ग्रहण करता है, उन सब निर्णयों में जिनपर वह पहुँचता है, उन सब आदतों में जिन्हें वह डालता है, कोई ऐसी नहीं होती जो मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन पर उतना असर डालती हो जितना कि विषयभोग के साथ सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति और उसके निर्णय इत्यादि डालते हैं। चाहे मनुष्य उनकी रोक-थाम करे या वह स्वयं उनके प्रवाह में बहने लग जाय, उसके कृत्यों की प्रतिध्वनि सामाजिक जीवन के कोने-कोने में सुनाई पड़ेगी; क्योंकि यह प्राकृतिक नियम है कि गुप्त से गुप्त कार्य भी अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। इसी रहस्य के कारण किसी भी प्रकार की अनीति करते समय हम अपने को इस भुलावे में डाल लेते हैं कि हमारे कुकृत्य का परिणाम कोई बुरा न होगा।

'अब रही अपने सम्बन्ध की बात। अपने विषय में पहले तो हम निर्द्वन्द्व हो बैठते हैं, (क्योंकि हमारे कृत्यों का हेतु हमारी ही इच्छा रही है) परन्तु जब हम समाज के विषय में विचार करते हैं, तब उसे अपने से इतने ऊँचे पर समझते हैं कि वह हमारे कुकृत्यों की ओर देखेगा भी नहीं, और फिर साथ ही हम

गुप्त रीति से, इस बात की भी आशा रखते हैं कि दूसरों में पवित्रता और सदाचार के भाव बने ही रहेंगे। सबसे भद्दी बात तो यह है कि इस प्रकार का ओछा विचार कभी-कभी केवल असाधारण और अपवाद-स्वरूप समयों में प्रायः सच निकल जाता है और फिर सफलता के मद में भूलकर हम अपना व्यवहार वैसा ही स्थिर रखते हैं, और जब कभी अवसर आता है, हम उसे न्याय-संगत ही ठहराते हैं; किन्तु ध्यान रहे कि यही हमारे लिये सबसे बड़ा दण्ड है।

'परन्तु एक दिन ऐसा भी आता है जब कि हमारे इस व्यवहार से मिलनेवाला उदाहरण दूसरे प्रकार से हमको धर्मच्युत करने का कारण बनता है—हमारे प्रत्येक कुकृत्य का यह परिणाम होता है कि सदाचार से वह प्रेम करना, जिसे हम 'दूसरों' में विद्यमान समझते आये हैं, हमारे लिए अधिक कठिन और साहसयुक्त बन जाता है। फल यह होता है कि हमारा पड़ोसी धोखा खाते-खाते ऊबकर हमारी नकल करने के लिए उतावला हो उठता है। बस, उसी दिन से अधःपतन आरम्भ हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य तुरन्त अपने कृत्यों के परिणामों का अनुमान कर लेता है और वह यह भी जान सकता है कि उसका उत्तरदायित्व कहाँ तक है।

"जिस गुप्त कार्य को हम एक कन्दरा में बन्द समझते थे, उसमें से वह निकल पड़ा है। उसमें एक प्रकार की निराली स्फूर्ति के आ जाने से वह समस्त भागों में फैल चुका है। सबको प्रत्येक की भूल के कारण कष्ट सहन करना पड़ता है और 'इक मछली सब जल गन्दा' वाली कहावत चरितार्थ होती है। जैसे, किसी जलाशय में पत्थर फेंकने से सारा जलाशय क्षुब्ध हो

उठता है, उसी प्रकार हमारे प्रत्येक कृत्य का सामाजिक जीवन के सुदूर के स्थान पर भी प्रभाव पड़ता है।

"अनीति जाति के रस-स्रोतों को तुरन्त ही सुखा देती है। वह पुरुष को शीघ्र ही क्षीण कर डालती और उसका नैतिक तथा शारीरिक सत्त्व-चूस लेती है।

चौथा अध्याय

संयम और ब्रह्मचर्य

इतना लिख चुकने के बाद कि भ्रष्टाचार के अनेक रूपों से, व्यक्ति, परिवार तथा समाज की अपार हानि होती है, ग्रन्थ-लेखक मनुष्य-स्वभाव के विषय में एक बात लिखते हैं कि मनुष्य भूल से समझ बैठता है कि मेरा अमुक कार्य स्वतन्त्र है, इससे समाज की कोई हानि नहीं। परन्तु प्राकृतिक नियम ही ऐसा है कि गुप्त से गुप्त और व्यक्तिगत काम का भी प्रभाव दूर से दूर तक पड़ता है। अपने कृत्य को पाप मानने वाले भी, बार-बार यही हठ करके कि उनके उस काम का समाज से कोई सम्बन्ध नहीं, पाप में इतने लिप्त हो जाते हैं कि वे अपने पाप को पाप मानने में सन्देह करने लगते हैं तथा उसी पाप का प्रचार भी वे करते हैं। यह ठीक है कि पाप छिपा नहीं रह सकता, किन्तु उस पाप का विष सारे समाज में फैल जाता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि गुप्त पाप से भी समाज को भारी हानि होती है।

तो फिर इसका यत्न क्या है? लेखक स्पष्ट बतलाते हैं कि नियम अथवा विधान बनाकर इसे कभी नहीं रोका जा सकता।

इसके लिये केवल आत्म-संयम ही एक उपाय है। इसलिए इस पक्ष में लोकमत तैयार करना अत्यन्त आवश्यक है कि अविवाहित स्त्री और पुरुष सभी ब्रह्मचर्य पूर्वक रहें। जो लोग अपने विषयों की इच्छा पर इतना संयम नहीं रख सकते, उनके लिये विवाह करना आवश्यक है और जो विवाह कर चुके हों, उन्हें एक दूसरे के साथ वफादार रहकर भलीभाँति संयम सहित जीवन व्यतीत करना चाहिए-इत्यादि विषय पर लेखक ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

किन्तु बहुत-से लोग कहते हैं कि "ब्रह्मचर्य से स्त्री-पुरुष के स्वास्थ्य को हानि होती है, और यह कहना कि ब्रह्मचर्य-पालन करो, उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर और इस अधिकार पर कि वे स्वेच्छानुसार सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करें, असह्य आक्रमण करना है।" लेखक इस युक्ति का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं "विषय की इच्छा नींद या भूख-जैसी कोई वस्तु नहीं है कि जिसके बिना मनुष्य जीवित ही न रह सके। यदि हम भोजन न करें, तो निर्बल हो जायँगें, यदि नींद न लें, तो बीमार पड़ जायँगे, और यदि शौच को रोकें तो बहुत से रोग होंगे। किन्तु विषय की इच्छा को तो हम प्रसन्नता से रोक सकते हैं और इस इच्छा को रोकने की शक्ति भी ईश्वर ने ही हमें दी है। आजकल विषयेच्छा स्वाभाविक इच्छा कही जाती है इसका कारण यह है कि आज-कल की हमारी सभ्यता में कितनी ही ऐसी उत्तेजक बातें भरी हुई हैं जिनसे हमारे युवक तथा युवतियों में यह इच्छा समय से पहले ही जागृत हो जाती है।" इसके पश्चात् लेखक ने कई बड़े-बड़े डाक्टरों के मतों का प्रबल प्रमाण दिया है कि ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य में अंतर नहीं पड़ सकता। यही नहीं किन्तु उससे स्वास्थ्य को अपरिमित लाभ होता है।

ट्यूबिगन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर 'अस्टर्लन' का मत है– "कामवासना इतनी प्रबल नहीं होती जिसका दमन विवेक या नैतिक बल से पूर्णतया न किया जा सके। हाँ, प्रत्येक युवक-युवती को उचितावस्था पाने के पूर्व तक संयम से रहना सीखना चाहिये। उन्हें जान लेना चाहिये कि उनके आत्मसंयम का पुरस्कार उन्हें हृष्ट-पुष्ट शरीर तथा दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए उत्साह-बल के रूप में मिलेगा।

"यह बात जितनी ही बार कही जाय, थोड़ी ही है कि नैतिक तथा शरीर-सम्बन्धी संयम और पूर्ण ब्रह्मचर्य का एक साथ रहना भलीभाँति सम्भव है। विषयभोग का समर्थन न तो ऊपर लिखे किसी प्रकार से और न धर्म ही की दृष्टि से किया जा सकता है।"

लन्दन के रायल कॉलेज के प्रोफेसर 'लायनेल बिली' कहते हैं—श्रेष्ठ और सभ्य मनुष्यों के उदाहरणों ने अनेक बार सिद्ध कर दिया है कि बड़े-से-बड़े विकार भी सच्चे और पुष्ट हृदय से तथा रहन-सहन के विषय में उचित सावधानी रखने से रोके जा सकते हैं। जब कभी संयम का पालन कृत्रिम साधनों से ही नहीं, वरन् उसे अपनी इच्छा से स्वभाव में प्रविष्ट करके किया गया है, तब-तब उससे कभी हानि नहीं पहुँची। संक्षेप में, अविवाहित रहना अति दुष्कर नहीं है, किन्तु तभी जब कि वह किसी मनोवृत्ति का स्थूल रूप हो। पवित्रता का अर्थ कोरा विषय-निग्रह करना ही नहीं है, वरन् विचारों में भी शुचिता लाना है।"

स्विट्जरलैंड का मनोवैज्ञानिक 'फोरल', जिसने कि इस विषय का भलीभांति अध्ययन किया है और जो उसी अधिकारयुक्त वाणी में इसकी चर्चा करता है, कहता है—"व्यायाम से प्रत्येक प्रकार का शारीरिक बल बढ़ता और पुष्ट होता है। इसके विपरीत,

किसी भी प्रकार की अकर्मण्यता उसके उत्तेजित करनेवाले कारणों के प्रभाव को दमन कर देती है।

"विषय-सम्बन्धी सभी उत्तेजक बातें विषय-वासना को अधिक प्रबल कर देती हैं। उन बातों से बचे रहने से उनका प्रभाव मन्द हो जाता है और विषयवासना धीरे-धीरे कम हो जाती है। प्रायः युवक यह समझते हैं कि विषय-निग्रह करना एक असाधारण एवं असंभव कार्य है। किन्तु वे लोग जो स्वयं संयम से रहते हैं, सिद्ध करते हैं कि बिना स्वास्थ्य बिगाड़े भी पवित्र जीवन व्यतीत किया जा सकता है।"

एक दूसरे विद्वान् 'रिबिंग' का कथन है—"मैं २५ या ३० वर्ष की अवस्थावाले तथा उससे भी अधिक आयुवाले लोगों को जानता हूं, जिन्होंने पूर्ण संयम रक्खा है; ऐसे लोगों को भी जानता हूं जिन्होंने अपने विवाह के पूर्व भी संयम बनाए रक्खा है। ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं है; हाँ, यह अवश्य है कि वे अपना ढिंढोरा नहीं पीटते।

"मेरे पास ऐसे कितने विद्यार्थियों के अनेक खानगी पत्र आये हैं, जिन्होंने इस बात पर आपत्ति की है कि मैंने विषय संयम की सुसाध्यता पर काफी जोर नहीं दिया।"

'डा० एक्टन' का कहना है—"विवाह के पूर्व युवकों को पूर्ण संयम से रहना चाहिए और यह संभव भी है।"

'सर जेम्स पैगट' का विचार है—"जिस प्रकार पवित्रता से आत्मा को हानि नहीं पहुँचती, उसी प्रकार शरीर की भी कोई क्षति नहीं होती। इन्द्रिय संयम सबसे उत्तम आचरण है।"

डा० 'पेरियर' कहते हैं–"पूर्ण संयम के विषय में यह कल्पना करना कि वह भयानक है, नितान्त मिथ्या विचार है। उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये। क्योंकि यह युवक—युवतियों

के ही मन में घर नहीं करता, वरन् उनके माता-पिताओं के मन में भी घर बनाता है। नवयुवकों के लिये ब्रह्मचर्य-शारीरिक मानसिक तथा नैतिक, तीनों दृष्टियों से उनकी रक्षा करने वाली वस्तु है।"

'सर एंडरूक्लार्क' कहते हैं—"संयम से कोई हानि नहीं पहुँचती और न वह मनुष्य के स्वाभाविक विकास को ही रोकता है। वह तो बल को बढ़ाता और बुद्धि को तीव्र करता है। असंयम से आत्म-शासन जाता रहता है, आलस्य बढ़ता और शरीर ऐसे रोगों का घर बन जाता है, जो भविष्य में सन्तानों पर भी प्रभाव डालते चले जाते हैं। यह कहना कि विषय-भोग नवयुवकों के स्वास्थ्य के लिए जरूरी है-केवल भूल ही नहीं वरन् उनके प्रति निर्दयता भी है। यह कथन मिथ्या और हानिकारक है।"

डा० 'सरब्लेड' ने लिखा है कि-"असंयम के दुष्परिणाम तो निर्विवाद और सर्वविदित हैं, किन्तु संयम के दुष्परिणाम तो केवल कपोल-कल्पित हैं। उपर्युक्त दो बातों में पहली बात का अनुमोदन तो बड़े-बड़े विद्वान् करते हैं, किन्तु दूसरी को सिद्ध करने वाला अभी तक कोई मिला ही नहीं।"

डाक्टर 'मौंटेगजा' ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—"ब्रह्मचर्य" से होने वाले रोग मैंने नहीं देखे। साधारणतया सभी कोई और विशेष रूप से नवयुवक ब्रह्मचर्य से होने वाले लाभों का तुरन्त ही अनुभव कर सकते हैं।"

डाक्टर 'ड्यूबाय' भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं—"उन मनुष्यों की अपेक्षा, जो कि पशु-वृत्ति के चंगुल से बचना जानते हैं, वे लोग नामर्दी के अधिक शिकार होते हैं, जो विषय-भोग के लिए अपनी इन्द्रियों की लगाम बिलकुल ढीली किये रहते हैं।" उनके इस वाक्य का समर्थन डाक्टर 'फीरी'

भली-भांति करते हैं और कहते हैं–"जो लोग मानसिक संयम कर सकें, वे ब्रह्मचर्य-पालन करें और इसके कारण अपने स्वास्थ्य के विषय में किसी प्रकार का भी भय न रक्खें। क्योंकि विषयेच्छा की पूर्ति पर ही स्वास्थ्य निर्भर नहीं रहता।"

प्रोफेसर 'एल्फ्रेड फ़ोर्नियर' लिखते हैं—"कुछ लोगों ने युवकों के आत्म-संयम के खतरों के विषय में अनुचित और निराधार बातें कही हैं। किन्तु मैं विश्वास दिलाता हूं कि यदि सचमुच आत्म-संयम में कोई भय है, तो मैं उनसे बिलकुल अजान हूं। और यद्यपि अपने व्यवसाय में उनके विषय में दक्षता प्राप्त करने का मुझे पूरा अवसर था, तो भी एक चिकित्सक की योग्यता से उनके अस्तित्व का मेरे पास प्रमाण नहीं है।

"इसके अतिरिक्त, शरीर-शास्त्र के एक ज्ञाता की योग्यता से मैं तो यही कहूंगा कि लगभग २८ वर्ष की आयु के पहले वीर्य पूर्णतया पुष्ट नहीं होता और न उसके पहले विषय-भोग की आवश्यकता ही प्रतीत होती है। विषयेच्छा प्रायः बुरी तरह से किये गए लालन-पालन का फल है। बुरा लालन-पालन बालक-बालिकाओं में समय से पहले ही कुवासना को उत्तेजित कर देता है।

"कुछ भी हो, यह बात तो निश्चित ही है कि विषय-वासना के संयम से किसी भय की सम्भावना नहीं। भय तो अपरिपाक अवस्था में विषयवासना जाग्रत करने और उसकी तृप्ति करने में है।"

इतना विश्वस्त प्रमाण देने के बाद, लेखक अन्त में ब्रूशेल्स नगर में १९०२ ई० में हुई संसार-भर के बड़े-बड़े डाक्टरों की सभा में स्वीकृत हुए इस प्रस्ताव को उद्धृत करते हैं—"नवयुवकों को यह शिक्षा देनी चाहिये कि ब्रह्मचर्य के पालन से उनके स्वास्थ्य को कभी हानि नहीं पहुँच सकती, वरन् वैद्यक और शरीर-शास्त्र की दृष्टि से तो, ब्रह्मचर्य एक ऐसी वस्तु है जिसका बड़ी प्रबलता

से समर्थन किया जाना चाहिए।" कुछ वर्ष पूर्व किसी ईसाई विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विभाग के सभी अध्यापकों ने सर्व सम्मति से घोषणा की थी कि यह कहना बिलकुल निराधार है कि ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिए कभी हानिकारक हो सकता है। यह बात हम अपने अनुभव और ज्ञान के बल पर कहते हैं। हमारे विचार में इस प्रकार के जीवन से कभी कोई हानि होती नहीं पाई गई।

लेखक ने सारे विषय का उपसंहार यों किया है—"इसपर से आप यह तो भलीभांति समझ चुके होंगे कि समाज-शास्त्री और नीति-शास्त्री पुकार-पुकार कर कहते हैं कि विषय की इच्छा भी नींद और भूख के समान कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसकी तृप्ति अनिवार्य हो। यह दूसरी बात है कि कुछ असाधारण अपवाद छोड़ देने पड़ें, किन्तु सभी नर-नारियों के लिये, बिना किसी बड़ी कठिनाई या दुःख के, ब्रह्मचर्य-पालन सरल है। सामान्यतः ब्रह्मचर्य से कभी कोई रोग नहीं होता, इसके विपरीत बहुत से भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति असंयम से होती है। पर यदि क्षण-भर के लिये यह भी मान लें कि वीर्य-रक्षा से रोग होता हो, तो भी प्रकृति ने ही मनुष्य के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए, आवश्यकता से अधिक शक्ति के लिए, स्वाभाविक स्खलन या मासिक धर्म द्वारा रज-वीर्य के निकल जाने का मार्ग निश्चित कर दिया है।"

अतएव डा० 'बीरी' का यह कहना नितांत सत्य है—"यह प्रश्न, वास्तविक आवश्यकता या प्रकृति का नहीं है। यह बात सभी कोई जानते हैं कि यदि भूख की तृप्ति न हो, या श्वास बन्द हो जाय, तो कौन-कौन से दुष्परिणाम हो सकते हैं। किन्तु कोई लेखक यह नहीं लिखता कि अस्थायी या स्थायी, किसी भी प्रकार के संयम के फल-स्वरूप अमुक छोटा या बड़ा किसी भी प्रकार का रोग हो सकता है। यदि संसार में हम ब्रह्मचारियों की

ओर देखें, तो वे किसी से न तो चरित्र बल में कम हैं, और न सङ्कल्प बल में; शरीर बल में तो इञ्च-भर भी कम नहीं हैं। वे यदि विवाह कर लें तो गृहस्थ धर्म के पालन की योग्यता में भी दूसरों से कुछ कम नहीं पाये जायँगे। जो वृत्ति इस प्रकार सरलता से रोकी जा सकती है, वह न तो आवश्यक है और न स्वाभाविक ही। विषय तृप्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मनुष्य के शारीरिक विकास के लिए आवश्यक हो। बल्कि बात तो ठीक उसके उल्टी है। शरीर के साधारण विकास के लिए पूर्ण संयम का पालन अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए वयः-प्राप्त युवक अपने बल का जितना ही अधिक संग्रह कर सकें, उतना ही अच्छा है। क्योंकि उस आयु में, बचपन की अपेक्षा रोग को रोकने की शक्ति कम होती है। इस विकास-काल में जब कि देह और मन पूर्णता की ओर बढ़ते हैं, प्रकृति को बहुत परिश्रम करना पड़ता है। इस कठिन समय में किसी भी बात की अधिकता बुरी है, किन्तु विशेषकर विषयेच्छा की उत्तेजना तो केवल हानिकारक ही है।"

पाँचवाँ अध्याय

व्यक्ति-स्वातंत्र्य की दलील

ब्रह्मचर्य से होनेवाले शारीरिक लाभों का विचार हो चुका। लेखक इसके नैतिक और मानसिक लाभों पर प्रो० मौंटेगजा का अभिप्राय व्यक्त करते हैं:—

"ब्रह्मचर्य से कई लाभ तत्काल होते हैं। इनका अनुभव सभी कर सकते हैं और नवयुवक तो विशेष करके। ब्रह्मचर्य से तुरन्त

ही स्मरण-शक्ति स्थिर और संग्राहक, होकर, बुद्धि उर्व्वरा, और इच्छा शक्ति बलवान् हो जाती है। मनुष्य के समस्त जीवन में वह रूपान्तर हो जाता है जिसकी कल्पना भी स्वेच्छाचारियों को कभी नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्य जीवन में कैसा विलक्षण सौन्दर्य और सौरभ भर देता है! मानों सारा विश्व नये और अद्भुत रंग में रँगा हुआ सा जान पड़ता है, और वह आनन्द नित्य नवीन मालूम होता है। इधर, ब्रह्मचारी नवयुवकों की प्रफुल्लता, चित्त की शान्ति और चमक एवं उधर इन्द्रिय-दासों की अस्थिरता, बेचैनी और घबराहट में कितना आकाश-पाताल का अन्तर होता है। भला इन्द्रिय-संयम से भी कोई रोग होता हुआ कभी सुना गया है? किन्तु इन्द्रियों के असंयम से होनेवाले रोगों को कौन नहीं जानता? शरीर तो सड़ ही जाता है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि उससे भी बुरा परिणाम मनुष्य के मन, मस्तिष्क, हृदय और संज्ञा शक्ति पर होता है। स्वार्थ का प्रचार इन्द्रियों की उद्दाम प्रवृत्ति तथा चारित्र्य की अवनति ही तो प्रत्येक स्थान पर सुनाई देती है।"

इतना होने पर भी जो लोग वीर्यनाश को आवश्यक मानते, और कहते हैं कि हमें अपने शरीर का मनमाना उपयोग करने का पूरा अधिकार है, संयम की सीमा बाँधकर आप हमारे स्वातंत्र्य पर आक्रमण करते हैं; उन्हें उत्तर देते हुए लेखक ने लिखा है कि समाज की उन्नति के लिए यह रोकना आवश्यक है।

उनका कहना है—"समाज-शास्त्री के सामने कर्मों के परस्पर आघात-प्रतिघात का ही नाम जीवन है। इन कर्मों का परस्पर कुछ ऐसा अनिश्चित और अज्ञात सम्बन्ध है कि कोई एक भी ऐसा कर्म नहीं हो सकता, जिसको हम अकेला कह सकें। उसका प्रभाव सर्वत्र पड़ेगा ही। हमारे छिपे से छिपे

कर्मों का, विचारों का और मनो भावों का ऐसा गहरा और दूर तक प्रभाव पड़ सकता है कि हमारे लिए उसका अनुमान लगाना भी असम्भव है। यह कोई हमारा अपना बनाया हुआ नियम नहीं है यह तो मनुष्य के सभी कामों के इस अखण्ड सम्बन्ध का विचार न करके कभी-कभी कोई समाज कुछ विषयों में व्यक्ति को स्वाधीन बना देना चाहता है। किन्तु उस स्वाधीनता को स्वीकार करने से ही व्यक्ति अपने को छोटा बना लेता है—अपना महत्त्व खो बैठता है।"

इसके बाद लेखक ने यह दिखलाया है—"जब हमें सब जगह सड़क पर थूकने तक का अधिकार नहीं है, तो भला वीर्य रूपी इस महाशक्ति का मनमाना व्यय करने का अधिकार हमें कहाँ से मिल सकता है? क्या यह काम ऐसा है, जो ऊपर के बतलाये हुए समस्त कामों के पारस्परिक अखण्ड सम्बन्ध से अलग है? यदि सच पूछा जाय, तो इसकी गुरुता के कारण इसका प्रभाव और भी गहरा हो जाता है। देखो, अभी इस नवयुवक और लड़की ने सम्बन्ध किया है। वे समझते हैं कि उसमें वे स्वतन्त्र हैं—उस काम से और किसी को कुछ आवश्यकता नहीं—वह केवल उन दोनों का ही है। वे अपनी स्वतन्त्रता के भुलावे में पड़कर यह समझते हैं कि इस काम से समाज का न तो कोई सम्बन्ध है और न समाज का उस पर कुछ नियंत्रण ही हो सकता है। किन्तु यह उनका लड़कपन है। वे नहीं समझते कि हमारे गुह्य और व्यक्तिगत कर्मों का अत्यन्त दूर के कर्मों पर भी भयंकर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार समाज को तुम नष्ट करना चाहते हो। तुम चाहो या न चाहो, परन्तु जब तुम केवल आनन्द के लिये, अल्पस्थायी वा अनुत्पादक ही सही, परन्तु यौवन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दिखलाते

हो, तो तुम समाज के भीतर भेद और भिन्नता का बीज बोते हो। हमारे स्वार्थ वा स्वच्छन्दता से हमारी सामाजिक स्थिति बिगड़ी हुई तो है ही, किन्तु अभी सब समाजों में ऐसा ही समझा जाता है कि सन्तानोत्पादक शक्ति के व्यवहार-सुख में जो जिम्मेदारी आ पड़ती है, उसे सब कोई प्रसन्नतापूर्वक उठावेंगे। इस उत्तरदायित्व को भूल जाने से ही आज पूँजी और श्रम, मजदूरी और विरासत, कर और सैनिक-सेना, प्रतिनिधित्व के अधिकार इत्यादि जटिल प्रश्नों का जन्म हुआ है। इस भार को अस्वीकार करने से एक बारगी ही वह व्यक्ति समाज के सारे संगठन को हिला देता है। और इस प्रकार दूसरे का बोझा भारी कर आप हलका होना चाहता है इसलिये वह किसी चोर, डाकू या लुटेरे से कम नहीं कहा जा सकता। अपनी इस शारीरिक शक्ति के सुव्यवहार के लिये भी समाज के सामने हम वैसे ही उत्तरदायी हैं, जैसे अपनी और शक्तियों के लिये। हमारा समाज इस विषय में निरस्त्र है और इसलिए उसे हमारी अपनी बुद्धिमानी पर ही उसके उचित उपयोग का भार रखना पड़ा। इस कारण इसकी जिम्मेदारी तो और भी कुछ बड़ी ही होनी चाहिये।

"स्वाधीनता बाहर से तो सुख-सी प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में वह एक भार-सी है। इसका अनुभव तुम्हें पहली बार में ही हो जाता है। तुम समझते हो कि मन और विवेक दोनों एक हैं, यद्यपि दोनों में है तो तुम्हारी ही शक्ति, किन्तु कई बार दोनों में बहुत भेद देखा जाता है। उस समय तुम किसको मानोगे? अपनी विवेक-बुद्धि की आज्ञा को, या अपनी नीच-से नीच इन्द्रिय-लालसा को। यदि इन्द्रिय-लालसा पर विवेक की विजय होने में ही समाज की उन्नति है? तब तो तुम्हें इन दोनों में से एक बात को चुन लेने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

किन्तु तुम यह भी कह सकते हो कि मैं शरीर और आत्मा दोनों का साथ-साथ पारस्परिक विकास चाहता हूं। ठीक। लेकिन यह याद रक्खो कि आत्मा के तुच्छ विकास के लिये भी कुछ-न-कुछ संयम तो तुम्हें अवश्य करना होगा। पहले इन विकास के भावों को नष्ट कर दो, तो पीछे तुम जो चाहोगे, हो सकोगे।

महाशय 'गैवरियल सीलेस' का कथन है—"हम वार-बार कहते फिरते हैं कि हमें स्वतन्त्रता चाहिए—हम स्वतन्त्र होंगे। किन्तु हम नहीं जानते कि यह स्वतन्त्रता कर्त्तव्य की कैसी कठोर बेड़ी बन जाती है। हमें यह नहीं मालूम कि हमारी इस बनावटी स्वतन्त्रता का अर्थ है इन्द्रियों की दासता, जिससे हमें न तो कभी कष्ट का अनुभव होता है और न हम कभी उसका विरोध ही करते हैं।

संयम में शान्ति है, और असंयम तो अशान्ति रूप महाशत्रु का घर है। कामेच्छाएँ तो सभी समयों में कष्टदायक हो सकती हैं, किन्तु युवावस्था में तो यह महाव्याधि हमारी बुद्धि को एकदम ही बिगाड़ दे सकती है। जिस नवयुवक का किसी स्त्री से पहले पहल सम्बन्ध होता है, वह नहीं जानता कि वह अपने नैतिक मानसिक और शारीरिक जीवन के अस्तित्व के साथ खेल कर रहा है। उसे यह भी नहीं मालूम कि उसके इस काम की यदि उसे वार-बार आकर सतायेगी और उसे अपनी इन्द्रियों की बड़ी भारी दासता करनी पड़ेगी। कौन नहीं जानता कि एक-से-एक अच्छे लड़के, जिनसे आगे बहुत कुछ आशा की जा सकती थी, चौपट हो गये और उनके पहली बार के नैतिक पतन से ही उनके पतन का आरंभ हुआ।

मनुष्य का जीवन तो उस बरतन के समान है, जिसमें तुम यदि पहली बूँद में ही मैला छोड़ देते हो, तो फिर कितना ही पानी डालते रहो, सभी दूषित होता जायगा।

इंगलैंड के प्रसिद्ध शरीर-शास्त्री 'केन्द्रिय' महाशय ने भी कहा है कि कामेच्छा की सन्तुष्टि केवल नैतिक दोष ही नहीं है, उससे शरीर को भी हानि पहुँचती है। यदि इस इच्छा के सामने तुम झुकने लगो, तो यह प्रबल होकर तुम्हारे ऊपर और भी अत्याचार करने लग जायगी। यदि तुम्हारा मन सदोष है, तो तुम उसकी बातें सुनोगे और उसका बल बढ़ाते जाओगे। ध्यान रक्खो कि प्रत्येक काम-पूर्ति तुम्हारी दासता की जंजीर की एक नयी कड़ी बनती जायगी।

फिर तो इसे तोड़ने की तुम्हें शक्ति ही न रहेगी, और इस प्रकार तुम्हारा जीवन एक अज्ञान-जनित अभ्यास के कारण नष्ट हो जायगा। सबसे अच्छा यत्न तो ऊँचे विचारों को पैदा करना और सभी कामों में संयम से काम लेने ही में है।"

महाशय 'ब्यूरो' ने इसके बाद डाक्टर 'फ्रैंक' का मत दिया है- "कामेच्छा के ऊपर मन और इच्छा का पूर्ण अधिकार है, क्योंकि यह कोई अनिवार्य शारीरिक आवश्यकता अथवा हाजत नहीं है। यह तो केवल एक इच्छा मात्र है, जिसका पालन हम जान बूझ कर, अपनी प्रसन्नता से ही करते हैं, न कि स्वभाव के वश होकर।'

छठाँ अध्याय

आजीवन ब्रह्मचर्य

विवाह के पहले और बाद भी ब्रह्मचर्य से क्या लाभ होते हैं, और वह कहाँ तक हो सकता है, इस बात को लिख कर, अब लेखक ने इस विषय पर लिखा है कि आजीवन ब्रह्मचर्य

कहाँ तक सम्भव है और उसका महत्व क्या है। वे लिखते हैं—"कामवासना की दासता से मुक्ति पाने वाले वीरों में सबसे पहले उन युवक-युवतियों का नाम लिया जायगा, जिन्होंने किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये आजीवन अविवाहिता रह कर ब्रह्मचर्य-पालन का निश्चय कर लिया है। उनके इस दृढ़ निश्चय के अलग अलग कारण होते हैं। कोई असहाय माता-पिता की सेवा को अपना कर्तव्य मानता है, तो कोई अपने मातृ-पितृहीन छोटे बहनों के लिये स्वयं माता-पिता का स्थान ग्रहण करता है। कोई ज्ञानार्जन में ही जीवन व्यतीत करना चाहता है तो कोई रोगियों या दुखियों की सेवा में ही जीवन को अर्पण कर देना चाहता है। इस निश्चय का पालन करने में किसी को तो अपने मनोविकारों के साथ भयंकर युद्ध करना पड़ता है, और किसी के लिए कभी-कभी भाग्यवशात् पहले से ही एकदम निर्विघ्न मार्ग तैयार रहता है। वे अपने मनमें अपने या परमात्मा के सामने प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि "जो ध्येय उन्होंने चुन लिया, वह चुन लिया, अब फिर विवाह की बात करना व्यभिचार होगा।" प्रसिद्ध चित्रकार 'माइकेल ऐञ्जेलो' से जब किसी ने कहा कि तुम विवाह कर लो, तो उसने उत्तर दिया कि चित्रकारी ही मेरी ऐसी पत्नी है, जो सौत का रहना सहन न कर सकेगी।

अपने यूरोपियन मित्रों के अनुभव से मैं महाशय 'ब्यूरो' के बतलाए हुए प्रायः सभी प्रकार के मनुष्यों का उदाहरण देकर उनकी इस बात का समर्थन कर सकता हूं कि बहुत से मित्रों ने आजीवन-ब्रह्मचर्य का पालन किया है। हिन्दुस्तान को छोड़कर और किसी भी देश में बालपन से ही विवाह की बातें बालकों को सुनाई नहीं जातीं। यहाँ तो माता-पिता की यही अभिलाषा रहती है कि लड़के का विवाह कर देना और उसकी आजीविका

का उचित प्रबन्ध कर देना । पहली बात से तो असमय में ही बुद्धि और शरीर का ह्रास होता है और दूसरी बात से आलस्य आ घेरता और कभी-कभी दूसरे की कमाई पर जीने का अभ्यास पड़ जाता है। ब्रह्मचर्य की और स्वेच्छा से लिये हुए दारिद्र्य के व्रत की हम यही अत्यधिक प्रशंसा-मात्र करते हैं बस, यह काम तो केवल योगियों और महात्माओं से ही संभव है। हमलोग यह भी कहा करते हैं कि योगी और महात्मा ही तो असाधारण पुरुष होते हैं। हम यह भुला देते हैं कि जिस समाज की दशा ऐसी गिरी हुई हो, उसमें सच्चे योगी और महात्मा का होना ही असम्भव है। सदाचार का चाल यदि कछुए की चाल के समान धीमी और अबोध है, तो दुराचार खरहे की भांति दौड़ता है। हमारे पास पश्चिमीय देशों से व्यभिचार का सौदा बिजली की चाल से दौड़ा आता है और अपनी मनमोहिनी चमक-दमक से हमारी आंखों को चकाचौंध कर देता है और हम सत्य को भूल जाते हैं। क्षण-क्षण में पश्चिम से तार के द्वारा जो वस्तु पहुँचती है और प्रतिदिन परदेशी माल से लदे हुए जो जहाज उतरते हैं, उनमें होकर जो जगमगाहट आती है, उसे देखकर ब्रह्मचर्य-व्रत लेने में हमें लज्जा तक आने लगती है। और, निर्धनता के व्रत को हम पाप तक कहने को तैयार हो जाते हैं। किन्तु आज हिन्दुस्तान में हमें पश्चिम का जो दर्शन हो रहा है, पश्चिम भी ठीक वैसा नहीं है। जिस प्रकार दक्षिण अफ्रिका के गोरे वहाँ के रहनेवाले थोड़े से हिन्दुस्तानियों को देखकर ही सभी हिन्दुस्तानियों के चरित्र का अनुमान करने में भूल करते हैं, उसी प्रकार हम भी इस थोड़े से उदाहरण में सारे पश्चिम का अनुमान लगाने में अन्याय करते हैं। जो लोग इस भ्रम का पर्दा हटाकर भीतर देख सकते हैं, वे देखेंगे कि पश्चिम में भी वीर्य और पवित्रता

का एक छोटा-सा परन्तु अटूट झरना विद्यमान है। यूरोप की इस महा मरुभूमि में भी ऐसे झरने हैं, जहाँ जो कोई चाहे जीवन का पवित्र से पवित्र जल पीकर सन्तुष्ट हो सकता है। वहाँ के बहुत से मनुष्य ब्रह्मचर्य और स्वेच्छापूर्वक निर्धनता के व्रत लेते हैं और फिर कभी भूलकर भी उनके लिए गर्व नहीं करते—न कुछ पुकार ही मचाते हैं! वे लोग नम्रता के साथ यह सब किसी आत्मीय की अथवा स्वदेश की सेवा के लिये करते हैं। हम लोग धर्म की बातें इस प्रकार करते हैं मानों धर्म में और व्यवहार में कोई सम्पर्क ही न हो और यह धर्म केवल हिमालय के एकान्तवासी योगियों के लिये ही हो! जिस धर्म का हमारे नित्य के आचार-व्यवहार पर कुछ प्रभाव न पड़े, वह धर्म एक शून्य विचार के सिवा और कुछ नहीं है। सभी नवयुवक पुरुष और स्त्रियाँ, जिनके लिये यह पत्र (नवजीवन) में प्रति सप्ताह लिखा जाता है, समझ लें कि अपने आसपास के वातावरण को शुद्ध बनाना और अपनी निर्बलता को दूर करना तथा ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना उनका परम कर्त्तव्य है। वे यह भी जान लें कि यह काम उतना कठिन नहीं है, जितना कि वे सुनते आये हैं।

अब देखना चाहिये कि लेखक और क्या कहते हैं। उनका कथन है—"यदि हम यह मान भी लें कि विवाह करना आवश्यक ही है, तो भी न तो सब कोई विवाह कर ही सकते हैं और न सबके लिये इसे आवश्यक और उचित ही कहा जायगा। इसके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन्हें ब्रह्मचर्य के पालन के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं रह जाता—(अ) कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें अपने व्यापार या निर्धनता के कारण विवश होकर विवाह करने से रुकना पड़ता है, (ब) कितनों ही को अपने योग्य

वर या कन्या ही नहीं मिलती, (ख) ऐसे भी बहुत से मनुष्य हैं, जिन्हें कोई ऐसा रोग होता है, जिसके सन्तान में भी आ जाने का भय होता है। और भी कई कारणों से कुछ लोगों को विवाह का विचार बिलकुल ही छोड़ देना पड़ता है। किसी उत्तम कार्य या उद्देश्य के लिये, अशक्त और सम्पन्न स्त्री-पुरुषों के ब्रह्मचर्य-व्रत से उन लोगों को भी अपने व्रत के पालन में सहारा मिलता है, जो विवश होकर ब्रह्मचारी बने रहते हैं। स्वेच्छा पूर्वक जिसने ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया है, उसे तो अपना ब्रह्मचारी-जीवन अपूर्ण नहीं मालूम होता। इसके विपरीत वह तो ऐसे ही जीवन को उच्च और परमानन्द से भरा हुआ जीवन मानता है। विवाहित और अविवाहित दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्यधारियों को उनके व्रत के पालन में उससे उत्साह मिलता है। वह उनका पथ-प्रदर्शक बनता है।"

ग्रन्थकर्त्ता महाशय 'फोर्स्टर' का मत है—"ब्रह्मचर्य-व्रत विवाह-संस्था का बड़ा भारी सहायक है। यह विषयेच्छा और विकारों से मनुष्य की मुक्ति का चिह्न-स्वरूप है। विवाहित स्त्री-पुरुष इसे देखकर विचार करते हैं कि वे आपस में एक दूसरे की केवल विषयेच्छा की ही पूर्ति के साधन नहीं हैं, वरन् विषय-वासना के रहते हुए भी वे स्वतंत्र और मुक्त आत्मा हैं। ब्रह्मचर्य की हँसी उड़ानेवाले यह नहीं जानते कि उसकी हँसी उड़ाकर वे व्यभिचार और बहु-विवाह का समर्थन कर रहे हैं। यदि यह मान लिया जाय कि विषयेच्छा को तृप्त करना अत्यंत आवश्यक है, तो फिर विवाहित स्त्री-पुरुषों से किस प्रकार पवित्र जीवन की आशा रक्खी जा सकती है? वे यह भूल जाते हैं कि रोगवश या किसी और कारण से कभी-कभी दम्पति में से एक की अशक्ति के कारण दूसरे के लिये आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। और कुछ नहीं, तो केवल इस कारण से ही

कि ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा हम स्वीकार करते हैं, उतने ही ऊँचे पर हम एक पत्नी-व्रत के आदर्श को चढ़ाते हैं।"

सातवाँ अध्याय

विवाह का पवित्र संस्कार

आजीवन ब्रह्मचर्य का विषय लिखने के बाद, कई अध्यायों में लेखक ने विवाहित-जीवन के कर्तव्य और विवाह की अखण्डता पर विचार किया है। यद्यपि वह अखण्ड ब्रह्मचर्य को ही सबसे उत्तम मानते हैं, तो भी यद्यपि सर्व-साधारण के लिये वह शक्य नहीं है, इस कारण वैसे लोगों के लिए विवाह-बन्धन केवल आवश्यक नहीं, वरन् कर्तव्य के बराबर है। उन्होंने दिखलाया है कि विवाह के कर्तव्यों और उद्देश्यों को ठीक-ठीक समझ लेने पर सन्तति-निरोध के समर्थन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस नैतिक असंयम का कारण हमारी विपरीत शिक्षा है। विवाह की हँसी उड़ानेवाले लेखकों के तर्कों का उत्तर देकर लेखक कहते हैं।

"पुरुष और स्त्री के जीवन-पर्यन्त साहचर्य का नाम ही विवाह है। विवाह केवल आपस का एक ठेका-भर ही नहीं है, वरन् वह एक धार्मिक संस्कार है—धर्म-सम्बन्ध है। यह कहना भूल होगा कि विवाह के नाम पर किये जाने वाले सभी प्रकार के विषय-विलासमय असंयम क्षमा-योग्य हैं। असंयम से विवाह के वास्तविक उद्देश्य को क्षति होती है। सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त

और सभी प्रकार की कामवासना की तृप्ति, सच्चे प्रेम के लिये बाधक और समाज तथा व्यक्ति के लिये हानिकारक है। सन्त फ्रांसिस का कहना है कि कड़ी औषधियों का सेवन करना सदैव भयङ्कर ही होता है। कामवासना की औषधि के रूप में विवाह बड़ी अच्छी वस्तु है, किन्तु वह कड़ी है और इसलिये बहुत सँभाल कर यदि उसका व्यवहार न किया जाय तो भयानक भी है।"

इसके बाद लेखक विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने या तोड़ने में, अथवा सीधे-सीधे विवाह से प्राप्त होनेवाले कर्तव्यों की चिंता न करके असंयत जीवन बिताने में व्यक्तिगत स्वाधीनता का विरोध करते हैं। और एक पत्नीव्रत का ही समर्थन करते हैं:—

"यह ठीक नहीं है कि विवाह करने या स्वार्थमय ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने का हमें पूर्ण अधिकार है। और इससे भी कम अधिकार विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर के सन्धि से विवाह-संयोग तोड़ने का है। उनकी स्वतंत्रता एक दूसरे को चुन लेने-भर में ही होती है। और वे चुनते हैं, यह ठीक-ठीक समझकर कि एक दूसरे के साथ विवाह के कर्तव्यों का वे ठीक-ठीक पालन कर सकेंगे। फिर एक बार जब यह संस्कार हो गया, तब उसका प्रभाव इन दो मनुष्यों के अतिरिक्त समाज पर बहुत दूर तक पड़ने लगता है। चाहे आज उसे हम न समझ सकें, परन्तु जो समझते हैं, वे हमारे आज के सामाजिक दुःखों की जड़ को पहचानते हैं। उन्हें इससे सन्तोष होगा कि जब सभी संस्थाओं का विकास होता है, तो इस विवाह-संस्था का भी विकास और परिवर्तन होना आवश्यक है। वे तो देखते हैं कि आज जब परस्पर की केवल सन्धि होने से ही विच्छेद के अधिकार माँगे जाते हैं, तो अवसर पाकर हमें होनेवाले कष्टों से ही पतिव्रत एवं एक पत्नीव्रत की महिमा का ज्ञान होगा।

"विवाह की अखण्डता का नियम अकारण शोभा के लिये ही नहीं है। व्यष्टि और समष्टि के सामाजिक जीवन की बड़ी कोमल बातों से इसका सम्बन्ध है। जो लोग विकासवादी हैं, उन्हें सोचना चाहिये कि जाति की यह अनिश्चित उन्नति अंत में किस मार्ग पर जायगी ? उत्तरदायित्व के भाव की वृद्धि, व्यक्ति का स्वेच्छा से धारण किया हुआ संयम, सन्तोष और उदारता की वृद्धि, स्वार्थ का नियमन, क्षणिक क्षोभों के विरुद्ध भावुकता का जीवन आदि मनुष्यों के आंतरिक जीवन की इन बातों को हम कभी भूल नहीं सकते। सभी प्रकार की आर्थिक वा सामाजिक उन्नति में इनका विचार अवश्य रखना होगा, नहीं तो उन उन्नतियों का कोई मूल्य ही नहीं गिना जा सकता। इसलिये सामाजिक और नैतिक दोनों विचारों से यदि हम भिन्न-भिन्न प्रकार के काम-सम्बन्ध पर दृष्टि डालते हैं, तो हमें इस बात का विचार करना ही पड़ेगा कि हमारे सारे सामाजिक जीवन की शक्ति को बढ़ाने के लिए कौन-सी संस्था सबसे अच्छी है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की आंतरिक जीवन की शुद्धि, स्वार्थ का त्याग और बलिदान की बढ़ती तथा चंचलता इत्यादि के नाश के लिये कौन-सा जीवन सबसे उत्तम होगा ? इन प्रश्नों पर विचार करने से कहना ही पड़ेगा कि एक पत्नीव्रत के सामाजिक और शिक्षा-सम्बन्धी महत्व के कारण सबसे अच्छा दूसरा जीवन नहीं है। परिवारिक जीवन में ही इन सब मनुष्योचित गुणों का विकास होता है और अपनी अखण्डता के कारण दिन-प्रति दिन इस सम्बन्ध की गंभीरता भी बढ़ती ही जाती है। ऐसे भी कहा जा सकता है कि मनुष्य के सामाजिक जीवन का केन्द्र एक पत्नीव्रत ही है।"

इसके बाद लेखक 'ऑगस्ट कॉमेट' का विचार सामने रखते हैं—"हमारे ऊपर समाज का नियंत्रण अत्यंत आवश्यक है, नहीं

तो धीरे-धीरे हमारा जीवन किसी भी योग्य न रह जायगा। विवाह का उद्देश्य काम-वासना की तृप्ति ही नहीं है।"

डाक्टर 'टूलो' ने लिखा है—"विवाहिता जीवन के सुखों में इस भूल से बहुत बाधा पड़ती है कि काम-प्रवृत्ति की पूर्ति अत्यन्त आवश्यक है। ठीक इसके विपरीत मनुष्य की प्रकृति है—इन प्रवृत्तियों का दमन करना। छोटा-सा बच्चा अपनी शारीरिक प्रवृत्तियों का दमन करना सीखता है। बड़े लोगों को मन की प्रवृत्तियों के दमन का अभ्यास करना पड़ता है। हम लोग जिसे अधिकतर स्वभाव या प्रवृत्ति के नाम से पुकारते हैं, वह हमारी निर्बलता है। जिसमें वह शक्ति है, वह पुरुष उचित अवसर पर उस शक्ति का प्रयोग भी कर सकता है।"

आठवाँ अध्याय

उपसंहार

अच्छा, इस लेख-माला को अब समाप्त करना चाहिए। 'ब्यूरो' ने 'माल्थूस' के सिद्धान्तों की जैसी समीक्षा की है, उसे जानना हमारे लिये अत्यंत आवश्यक नहीं है।

"यद्यपि इस समय मनुष्यों की संख्या बहुत बढ़ रही है, इसलिये यदि अभीष्ट हो कि समस्त मनुष्य-जाति समूल नष्ट न हो जाय तो सन्तति-निरोध को आवश्यक मानना ही पड़ेगा।" —इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करके 'माल्थूस' ने अपने समय के लोगों को चकित कर दिया था। अस्तु, 'माल्थूस' ने तो इन्द्रियसंयम ही सिखलाया था, किन्तु आजकल का नया माल्थूसी सिद्धान्त

तो संयम की शिक्षा न देकर पशुवृत्ति की तृप्ति के दुष्परिणामों से बचने के लिये यंत्रों और औषधियों का व्यवहार सिखलाता है! नैतिक रीति से—अर्थात् इन्द्रिय-संयम के द्वारा सन्तति-निरोध का समर्थन तो 'ब्यूरो' बड़ी प्रसन्नता से करते हैं; किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं वह औषधियों या यंत्रों की सहायता से संतति-निरोध का निषेध एवं घोर विरोध करते हैं। इसके पश्चात् लेखक ने श्रमजीवियों की दशा तथा उनकी जन्म-संख्या की जाँच की है और अन्त में, व्यक्तिगत स्वाधीनता और मनुष्यता के भी नाम पर फैली हुई अनीतियों को रोकने के यत्नों पर विचार करते हुए पुस्तक समाप्त की है। लोकमत का नेतृत्व और नित्य-मनन करने के लिये वह संगठित रूप से कार्य करने की सम्मति देते हैं, और इस विषय में विधि-विधान की सहायता का भी वह समर्थन करते हैं। किन्तु उनका अन्तिम विश्वास तो धार्मिक वृत्ति की जागृति पर ही है। अनीति को एक तो यों ही साधारण उपायों से नहीं रोका जा सकता है, और तब तो बिल्कुल ही न रोका जा सकेगा जब कि अनीति को ही धर्मनीति का पद दिया जाने लगेगा और नीति को दुर्बलता, अन्ध-विश्वास या अनीति ही कहा जायगा उदाहरण के लिये सन्तति-निरोध के बहुत से समर्थक ब्रह्मचर्य को अनावश्यक ही नहीं, वरन् हानिकारक भी बतलाते हैं। ऐसी दशा में निरंकुश पापाचार को रोकने में केवल एक धर्म की ही सहायता उपयुक्त होगी। यहाँ धर्म का संकीर्ण अर्थ न लेना चाहिए। व्यक्ति हो अथवा समाज, उसपर सच्चे धर्म का जितना गहरा प्रभाव पड़ता है, उतना किसी दूसरी वस्तु का नहीं। धार्मिक जागृति का अर्थ क्रान्ति, परिवर्त्तन एवं पुनर्जन्म है। 'ब्यूरो' की सम्मत्ति में फ्रांस जिस विनाश के मार्ग पर चल रहा है, उससे उसे कोई धार्मिक क्रान्ति के समान महाशक्ति ही बचा सकती है।

अच्छा, अब हम लेखक तथा उनकी पुस्तक को यहीं छोड़ दें। फ्रांस और भारत की दशा एक-सी नहीं है। हमारी समस्या कुछ और ही है। गर्भ-निरोधक साधनों का यहाँ घर-घर प्रचार नहीं है। शिक्षित लोगों में भी इन वस्तुओं का व्यवहार कदाचित् ही होता हो। मेरे विचार में हिन्दुस्तान में उनके प्रचार के लिये कोई उपयुक्त कारण भी नहीं है। मध्यम श्रेणीवालों में जन्म-संख्या अधिक है। जहाँ तक मेरे देखने में आया है, विधवाओं और बाल-पत्नियों के लिये ही यहाँ इन वस्तुओं के उपभोग का समर्थन किया जाता है। इसलिये एक ओर तो हम असामान्य सन्तति के जन्म से बचना चाहते हैं परन्तु गुप्त व्यभिचार से नहीं। और दूसरी ओर हमें बालिका के गर्भवती हो जाने का डर है, न कि उसके साथ बलात्कार किये जाने का दुःख!

अब रहे वे रोगी, निर्बल और निर्वीर्य नवयुवक जो अपनी या पराई स्त्री के प्रति कामासक्त रहते हैं, और इसे पाप मानते हुए भी इसके परिणामों से दूर भागना चाहते हैं। मैं यह कहने का साहस करता हूं कि अनेकों भारतीयों के इस महासमुद्र में ऐसे विरले ही हृष्ट-पुष्ट और वीर्यवान स्त्री-पुरुष मिलेंगे जो विषय-तृप्ति भी चाहें और बालकों का भार सँभालने से घबराएँ भी। इनके उदाहरण उद्धृत करके कोई इन घृणित प्रवृत्तियों का प्रचार न करे, क्योंकि यदि इनका सर्व-साधारण में प्रचार हो जायगा, तो इस देश के युवकों का सर्वनाश निश्चित है। अत्यन्त कृत्रिम शिक्षापद्धति ने जाति के युवकों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का कैसा अपहरण कर लिया है। हमलोगों का जन्म प्रायः बालकपन के व्याहे माता-पिता से ही हुआ है। स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों की उपेक्षा करने से हमारा शरीर घुन गया है। उत्तेजक मसालोंवाले एवं तामसिक और अपर्याप्त भोजन ने हमारी

पाचन-शक्ति को एकदम नष्ट कर डाला है। हमें आवश्यकता इस बात की नहीं है कि गर्भ-निरोधक साधनों की शिक्षा दी जाय और यह बताया जाय कि पाशविक प्रवृत्ति की तृप्ति के लिये क्या-क्या करना चाहिए पर, सबसे भारी आवश्यकता तो हमें इस शिक्षा की है कि कामेच्छा पर हम कैसे अधिकार करें, किस प्रकार जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य से रह सकें। इस बात की शिक्षा हमें उपदेश और उदाहरण दोनों के द्वारा दी जाने की आवश्यकता है कि यदि हमें शरीर और मस्तिष्क को शक्तिहीन नहीं रखना है, तो हमारे लिये ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त आवश्यक है और वह, सर्वथा शाक्य भी है। लोगों को पुकार-पुकार कर यह बात कही जाने की आवश्यकता है कि यदि हमारी जाति बौनों की जाति बनना नहीं चाहती तो हमें अपनी शक्ति का संचय करना होगा और अपनी बची-बचाई थोड़ी-सी शक्ति को बढ़ाना पड़ेगा जो पानी में बही जाती है। बाल-विधवाओं को यह बतलाना होगा कि गुप्तरूप से पाप मत किया करो, किन्तु साहस करके बाहर आओ और खुल कर अपना वही अधिकार तुम भी माँगो जो नवयुवक विधुरों को पुनर्विवाह के रूप में प्राप्त है। हमें ऐसा लोकमत बनाने की आवश्यकता है कि जिसमें बाल-विवाह असम्भव हो जाय। हमारी अस्थिरता, कठिन और अविरल श्रम से अनिच्छा, शारीरिक अयोग्यता, शान से आरम्भ किये गये कामों का बैठ जाना और मौलिकता का अभाव—इत्यादि इन सबके मूल में मुख्यतः हमारा अत्यधिक वीर्यनाश ही है। मुझे आशा है कि नवयुवक इस भ्रम में न पड़ेंगे कि जबतक वे सन्तानोत्पत्ति से बचे रहें, तबतक के भोग-विलास से उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचती, उससे निर्बलता नहीं आती। सच पूछो तो प्रजनन को रोकने के लिये कृत्रिम उपायों से युक्त विषय-भोग, उसके उत्तरदायित्व को समझ कर

किये हुए सम्भोग की अपेक्षा, कहीं अधिक शक्ति का नाश कर सकता है। यदि हमारा मन यह मान ले कि विषय-संभोग आवश्यक, निर्दोष और पाप रहित है, तो फिर हम उसको निरंतर तृप्त करते रहना चाहेंगे और हमारे लिये उसका दमन करना असम्भव हो जायगा। किन्तु यदि हम अपने मत को ऐसा समझ सकें कि उसमें पड़ना हानिकारक, पापमय एवं अनावश्यक है और वह वश में रक्खा जा सकता है, तो हमको ज्ञात होगा कि आत्म-संयम सर्वथा शक्य है।

नवीन सत्य के और मनुष्यों की स्वाधीनता के बहाने उन्मत्त पाश्चात्य, स्वच्छन्दता की जो मदिरा यहाँ भेज रहा है, उससे हमें बचना ही होगा, किन्तु इसके विपरीत यदि हम अपने पूर्वजों के ज्ञान खो बैठें हों, तो हम पश्चिम की उस शान्त और गम्भीर ध्वनि को सुनें, जो कभी-कभी वहाँ के बुद्धिमान् पुरुषों के गंभीर अनुभव से हमारे पास छन-छन कर आया करती है।

'चार्ली एण्ड्रूज' ने मेरे पास जनन और प्रजनन पर मि० विलियम 'लौफ्टस हेयर' का एक अच्छा-सा लेख भेजा है, जो मार्च सन् १९२६ के "ओपनकोर्ट" नामक पत्र में प्रकाशित भी हुआ था। लेख बड़ा युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है। उसमें उन्होंने दिखलाया है कि सभी प्राणियों के शरीर में दो क्रियायें लगातार चालू रहती हैं। 'शरीर को बनाने के लिये आन्तरिक जनन और प्रजावृद्धि के लिये बाह्य प्रजनन। इनका नाम वे क्रमशः जनन और प्रजनन रखते हैं। जनन (आन्तरिक जनन) मनुष्य के जीवन का आधार है और इसलिये आवश्यक तथा मुख्य काम है। प्रजनन का काम शरीर-कोषों की अधिकता से होता है अतएव वह गौण है। जीवन का यह नियम है कि पहले जनन के लिये शरीर-कोषों की पूरी भर्ती हो जावे, तब प्रजनन हो। यदि शरीर-कोषों की

कमी रही, तो पहिले जनन का काम होगा, प्रजनन का रुका रहेगा। इस प्रकार हम मृत्यु का भी कारण जान जाते हैं। शरीर के प्रजनन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—"सभ्य मनुष्यों में प्रजनन की आवश्यकता से कहीं अधिक वीर्य नष्ट किया जाता है और इससे आन्तरिक जनन का काम रुकता है—जिसके फल-स्वरूप रोग, मृत्यु और अन्य प्रकार के दुःख और क्लेश होते हैं।"

जिसे हिन्दू-दर्शन-शास्त्र का थोड़ा भी ज्ञान होगा, उसे 'मि० हेयर' के लेख का निम्न-लिखित अवतरण समझने में कुछ भी कठिनाई न होगी। प्रजनन की क्रिया कुछ यन्त्र की क्रिया-सी नहीं है। प्रारम्भिक काल में कोषों के विभंजन से प्रजनन का जैसा सजीव कार्य होता था वैसा ही अब भी होता है—अर्थात् वह बुद्धि और इच्छा पर निर्भर रहता है। यह विचारना असम्भव है कि जीवन का काम एकदम जीव-रहित कल की भांति होता है। हाँ यह सच है कि ये मूलभूत बातें हमारी वर्तमान जागृति से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि वे मनुष्य की या पशु की इच्छा के अधीन नहीं मालूम होतीं, किन्तु क्षण-भर के बाद ही हमें विदित हो जाता है कि जिस प्रकार एक पुष्ट शरीर वाले पुरुष की सभी बाह्य क्रियाओं का नियन्त्रण उसकी इच्छा-शक्ति करती है और उसका काम ही यही है उसी प्रकार शरीर के क्रमशः होते हुए संगठन के ऊपर भी इच्छा-शक्ति का कुछ अधिकार अवश्य होना चाहिए। मनोवैज्ञानिकों ने उसका नाम असंकल्प रक्खा है। यह हमारे नित्य-नैमित्तिक विचारों से दूर होते हुए भी, हमारा ही एक विशेष अंग है। यह अपने काम में इतना जागरूक और सचेत रहता है कि हमारा चैतन्य कभी-कभी सुप्तावस्था में पड़ जाता है, किन्तु यह सोता एक क्षण के लिये भी नहीं! शरीर-सुख के लिये किये गये विषय-भोग से हमारे असंकल्प और अविनश्वर अंश की

जो प्रायः अपूर्व क्षति होती है, उसका अनुमान कौन लगा सकता है ? प्रजनन का फल मृत्यु है । विषय-संभोग पुरुष के लिये प्राण लेने वाला है, और प्रसूति के कारण स्त्री के लिये भी ठीक वैसा ही है ।

इसलिये लेखक का कहना है कि "बहुत संयमी या सम्पूर्ण ब्रह्मचारियों के लिये तो पुरुषत्व, संजीदगी और नीरोगता साधारण बातें हैं । "प्रजनन अथवा साधारण आमोद के लिये ही शरीर कोषों को जनन-पथ से हटाने से, शरीर की कमी की पूर्त्ति होने में बाधा पहुँचती है और धीरे-धीरे परंतु अन्त में अवश्यमेव शरीर को हानि पहुँचती है । इन्हीं कुछ शारीरिक बातों के आधार पर मनुष्य की व्यक्तिगत सम्भोग नीति निर्भर है, जिससे यदि हमें उसके दमन की नहीं, तो संयम की शिक्षा तो अवश्य मिलती है–या किसी प्रकार कुछ न कुछ संयम के मूल कारण का पता तो अवश्य ही चलता है ।"

यह सरलता से समझा जा सकता है कि लेखक, दवा या यंत्रों की सहायता से गर्भ-निरोध करने का विरोधी है । उसका कहना है—"इससे आत्म-संयम का कारण नहीं रह जाता और विवाहित स्त्री-पुरुषों के लिये जबतक बुढ़ापे की निर्बलता या इच्छा की कमी न आ जाय, तबतक वीर्यनाश करते जाना संभव हो जाता है । इसके अतिरिक्त विवाहित जीवन के बाहर भी इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है । इससे उच्छृङ्खल और अनुत्पादक व्यभिचार खुल जाता है । यह बात आधुनिक समाजशास्त्र और राजनीति की दृष्टि से भयानकता से भरी हुई है, किन्तु यहाँ इस मार्ग पर पूरा विचार करने की आवश्यकता नहीं है । इतना कहना ही यथेष्ट होगा गर्भनिरोधक साधनों से विवाह-बंधन के भीतर अथवा उसके बाहर अनुचित एवं अत्यधिक सम्भोग के लिये सुविधा हो

जाती और शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी मेरी उपर्युक्त युक्ति यदि सही है, तो इससे व्यष्टि और समष्टि दोनों की हानि निश्चित है।"

'ब्यूरो' जिस वाक्य से अपनी पुस्तक सपाप्त करते हैं, उसे प्रत्येक हिन्दुस्थानी नवयुवक को अपने हृदय-पटल पर अङ्कित कर लेना चाहिए भविष्य संयमशील व्यक्तियों के ही हाथ है।

नवाँ अध्याय

सन्तति-निग्रह

बहुत झिझक और अनिच्छा से मैं इस विषय की चर्चा करने बैठा हूँ। हिन्दुस्तान में मेरे आने के समयसे ही पत्र-लेखक मेरे सामने इन नकली उपायों से सन्तति-निग्रह का प्रश्न उठाते रहे हैं। मैंने उन्हें व्यक्तिगत उत्तर दिये हैं, किन्तु अभी तक इस प्रश्न की प्रगट चर्चा नहीं की है। अब से ३५ वर्ष पहले इस ओर मेरा ध्यान गया था। उस समय मैं इङ्गलैण्ड में पढ़ता था। उस समय वहाँ एक पवित्रवादी के, जो सन्तान-निग्रह के लिये संयम को छोड़ और कोई यत्न मानता ही नहीं था, और कृत्रिम उपायों के समर्थक एक डाक्टर के बीच बड़ा वादा-विवाद चल रहा था। उसी कच्ची आयु में कृत्रिम उपायों की ओर कुछ दिन झुकने के बाद मैं उनका कट्टर विरोधी हो गया। अब मैं देखता हूँ कि कुछ हिन्दी समाचार-पत्रों में ये उपाय ऐसे घृणित ढंग से एवं खुले रीति पर छापे जा रहे हैं कि उनसे मनुष्य की सभ्यता की भावना को भारी धक्का लगता है। मैंने यह भी देखा कि एक लेखक, कृत्रिम उपायों के समर्थकों में मेरा नाम बेरोक-टोक लेता है। मुझे ऐसा

एक भी अवसर याद नहीं है, जब मैंने इन उपायों के पक्ष में कुछ भी लिखा या कहा हो। मैंने दो अन्य बड़े आदमियों के नामों का भी इसके पक्ष में व्यवहार किया जाता देखा है। किन्तु उन लोगों से पूछे बिना उनका नाम छापने में संकोच होता है।

सन्तति-निग्रह की आवश्यकता के विषय में दो मत हो ही नहीं सकते। युगों से उसका केवल एक ही ढंग रहा है, और वह है आत्म-संयम या ब्रह्मचर्य। यह अचूक रामबाण औषधि है, जिसकी साधना करनेवालों को लाभ ही लाभ होता है। यदि डाक्टर लोग सन्तति-निग्रह के अप्राकृतिक उपाय निकालने के बदले आत्म-संयम के उपाय ढूँढ़ें, तो संसार उनका ऋणी रहेगा। संभोग का उद्देश्य सुख नहीं, वरन् सन्तानोत्पादन है। जब सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न हो, तब संभोग करना अपराध है, पाप है।

कृत्रिम साधनों का समर्थन करना मानों पाप का उत्साह बढ़ाना है। वे स्त्री-पुरुष को निश्चिन्त बना देते हैं। इन उपायों का जो प्रतिष्ठा दी जाती है, उसके कारण हमारे ऊपर से लोकमत का नियन्त्रण बहुत शीघ्र ही जाता रहेगा। कृत्रिम उपायो के व्यवहार से बुद्धिहीनता और मानसिक निर्बलता ही बढ़ेगी। रोग से बुरा उपचार ही होगा। अपने कर्मों के फल से बचने का प्रयत्न करना पाप और अनुचित है। जो मनुष्य अधिक भोजन करता है उसके लिये पेट का दर्द होना और उपवास करना अच्छा है। मनमाना भोजन करके और तब पुष्टई या और औषधियाँ खाकर उसके फल से बचना अच्छा नहीं है। अपने पाशविक विकारों को तृप्त करने के पश्चात् उसके परिणामों से बचना तो और भी अधिक बुरा है। प्रकृति को दया-माया नहीं; वह अपने नियमों को तनिक भी तोड़ने से पूरा प्रतिकार अवश्य लेगी। नैतिक फल तो नैतिक संयम से ही मिल सकते हैं। ।दूसरे सभी संयमों से ।उनका उद्देश्य ही

चौपट हो जाता है। कृत्रिम उपायों के समर्थक मूल ही से यह मानते हैं कि जीवन के लिये भोग आवश्यक है। इससे अधिक भ्रामक विचार और कुछ हो ही नहीं सकता। जो लोग वाल-बच्चों की संख्या का नियन्त्रण करना चाहते हैं, वे पुराने ऋषियों के निकाले उचित उपायों को ही ढूँढ़ें और उनके प्रचार की व्यवस्था सोचें। उनके आगे काम का बहुत विशाल क्षेत्र पड़ा है। बाल-विवाहों से जन-संख्या में सहज ही बढ़ती हो रही है। वर्तमान जीवन-क्रम भी बेरोक सन्तानोत्पादन का मुख्य कारण है। यदि ये कारण ढूँढ़ निकाले जाँय और इनको दूर किया जाय तो समाज की नैतिक उन्नति होगी। यदि अधीर पक्ष-पाती उनकी ओर से आँखें मूँद ले और कृत्रिम उपायों का ही बाजार गर्म रहे, तो सिवाय नैतिक अधःपतन के परिणाम और कुछ हो ही नहीं सकता।

जो समाज अनेक कारणों से स्वयं ही इतना उत्तेजित हो रहा है, कृत्रिम उपायों से वह और भी अधिक उत्तेजित हो जायगा। इसलिये उन लोगों के लिये जो बिना विचारे कृत्रिम उपायों का समर्थन कर रहे हैं, इस विषय का फिर से अध्ययन करने, अपने हानिकारक प्रचार को रोक रखने और विवाहित, अविवाहित सबके लिये ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने से उत्तम काम और कुछ हो ही नहीं सकता। सन्तति-निग्रह का एकमात्र वही उच्च और सरल मार्ग है।

दसवाँ अध्याय

संयम या स्वच्छन्दता

'सन्तति-निरोध' सम्बन्धी मेरे लेख के कारण, जैसी कि आशा की जाती थी, कुछ लोगों ने कृत्रिम साधनों के पक्ष में मुझे बड़ी जोरदार चिट्ठियाँ लिखी हैं। उनमें से केवल तीन पत्र उदाहरण स्वरूप मैंने चुन लिये हैं। एक और पत्र भी है, किंतु वह अधिकतर धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है, इस कारण उसे छोड़ देता हूं। पहला पत्र यह है—

"मैं मानता हूं कि ब्रह्मचर्य ही सन्तति-निरोध की रामबाण औषधि है, और इसके साधक को इससे लाभ भी होता है। किन्तु यह संयम का विषय है, संतति-निरोध का नहीं। इस पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—एक व्यक्ति की और दूसरी समाज की। काम-विकार को मारना व्यक्ति का कर्तव्य है किन्तु इसमें वह संतति-निरोध का विचार नहीं करता। सन्यासी मोक्ष प्राप्त करने की चेष्टा करता है, न कि सन्तति-निरोध की, किन्तु सन्तति-निरोध तो गृहस्थों की बात है! प्रश्न यह है कि एक मनुष्य कितने बच्चों का पालन कर सकता है! आप मनुष्य-स्वभाव को तो जानते ही हैं। प्रजोत्पत्ति की आवश्यकता पूरी हो जाने के पश्चात् 'सम्भोग-सुख को छोड़ने के लिये कितने व्यक्ति तैयार होंगे! स्मृतिकारों की तरह आप भी मर्यादा में रह कर संभोगेच्छा पूरी करने की आज्ञा तो देंगे ही। किन्तु इससे सन्तति-निरोध या जन्म-मर्यादा की समस्या हल न होगी, क्योंकि योग्य प्रजा, अयोग्य प्रजा की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ती है।

"सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से कितने मनुष्य सम्भोग करते हैं ? आप कहते हैं कि सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के विना सम्भोग करना पाप है। यह तो आप जैसे सन्यासियों के लिये ही उपयुक्त है। आप यह कहते हैं कि कृत्रिम साधनों का प्रयोग बुराई को बढ़ाता है। उससे स्त्री-पुरुष उच्छृंखल हो जाते हैं। यदि यह सच हो, तो आप बड़ा भारी कलंक लगाते हैं। क्या कभी लोकमत के द्वारा भी लोगों के विषय-भोग मर्यादित किये जा सके हैं ? लोग कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से सन्तान होती है। जिसने दाँत दिये हैं, वह दूध भी देगा ही। दूसरे अधिक सन्तति का होना पुरुषत्व का चिन्ह समझा जाता है। क्या निश्चय ही कृत्रिम साधनों के प्रयोग से शरीर और मन दुर्बल हो जाते हैं ! किन्तु आप तो किसी प्रकार भी उसका उपयोग करने देना नहीं चाहते। क्योंकि अपने किये हुए कर्म के फल से मुँह छिपाना और अनीति है। इसमें आप यह मान लेते हैं कि ऐसी भूख को थोड़ा भी बुझाना अनीति है। यदि संयम का कारण डर हो तो उससे नैतिक परिणाम अच्छा न होगा। माता-पिता के पाप का भागी भला सन्तान किस नियम से होगी ! बनावटी दाँत, आँख इत्यादि के व्यवहार को कोई प्रकृति के विरुद्ध है, जिससे हमारी भलाई नहीं होती। मैं यह नहीं मानता कि स्वभाव से ही मनुष्य बुरा होता है। और इसके प्रचार से वह और भी बुरा बन जायगा। आज भी पाप कुछ कम नहीं हो रहा है। हिन्दुस्थान भी उससे अछूता नहीं है। बुद्धिमानी तो इसमें है कि हम इस नई शक्ति को वश में लावें, न कि इससे भाग चलें। कुछ अच्छे-से-अच्छे कार्यकर्त्ता इनका प्रचार करना चाहते हैं, किन्तु उच्छृंखलता के प्रचार के लिये नहीं, वरन् लोगों को आत्म-संयम के अभ्यास में सहायता पहुँचाने के लिये। हमें स्त्रियों को भूल नहीं जाना चाहिए। उनकी आवश्यकताओं पर हमने बहुत दिनों तक

ध्यान नहीं दिया है। वे प्रजोत्पत्ति के लिए खेत या क्षेत्र के समान अपने शरीर का व्यवसाय करने की आज्ञा पुरुष को नहीं देतीं। कुछ रोग भी ऐसे हैं, जिन्हें मज्जातंतुओं की निर्बलता की जोखिम उठा कर भी दूर करना चाहिए।"

मैं यह बात पहले ही स्पष्ट किये देता हूं कि वह लेख मैंने न तो सन्यासियों के लिये और न सन्यासी की हैसियत से ही लिखा था। प्रचलित अर्थ के अनुसार मैं सन्यासी होने का दावा भी नहीं करता। मैंने जो कुछ लिखा है, आज तक के अपने निर्जी अखण्डित अभ्यास के बल पर लिखा है, जिसमें चौबीस वर्ष के बीच कहीं-कहीं नियम-भंग हुआ है। यही नहीं, मेरे उन मित्रों का अनुभव भी इसमें सम्मिलित है, जिन्होंने इस प्रयोग में इतने वर्षों तक मेरा साथ दिया है और जिनके अनुभवों द्वारा कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रयोग में क्या युवक और क्या वृद्ध, सभी प्रकार के स्त्री-पुरुष सम्मिलित हैं। मेरा दावा है कि यह प्रयोग कुछ अंश तक तो वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक था। यद्यपि इसका आधार बिलकुल नैतिक था, तो भी इसका आरंभ संतति-निरोध की अभिलाषा से ही हुआ था। इस प्रयोग के लिये स्वयं मेरा ही एक विलक्षण उदाहरण था। इसके पश्चात् विचार करने पर उससे भारी-भारी नैतिक परिणाम निकाले, पर निकले वे नितान्त स्वाभाविक क्रम से। मैं यह कह सकता हूँ कि यदि विचार और विवेक से काम लिया जाय तो बिना अधिक कठिनता से संयम का पालन सर्वथा संभव है। और यह केवल मेरा ही दावा नहीं वरन् जर्मन और दूसरे प्राकृतिक चिकित्सा-शास्त्रियों का भी है। उनका तो कहना है कि जल तथा मिट्टी के प्रयोग से स्नायु संकुचित होते हैं, और अनुत्तेजक तथा मुख्यतः फलाहार से स्नायुओं का वेग शमन होता है, एवं विषय-विकार को मनुष्य सरलता से वश

कर सकता है, पर साथ ही उससे स्नायु पुष्ट और बलवान् भी होते हैं। राजयोगियों का कहना है कि केवल भली-भांति प्राणायाम करने से भी यही लाभ होता है। पूर्वीय और पश्चिमीय प्राचीन विधियाँ केवल सन्यासियों के लिये ही नहीं हैं। वरन् इसके विपरीत वे मुख्य कर गृहस्थों के लिये हैं। यदि यह कहा जाय कि बहुत अधिक जन-संख्या के कारण ही बनावटी यत्नों के द्वारा संतति-निरोध की आवश्यकता है, तो मुझे इसमें पूरी शङ्का है। यह बात अब तक सिद्ध ही नहीं की गई है। मेरी सम्मति में तो यदि खेती के बँटवारे का समुचित प्रबंध कर दिया जाय, खेती सुधारी जाय, और एक सहायक धन्धे की व्यवस्था कर दी जाय तो हमारा यह देश अपनी वर्तमान जन-संख्या से दुगने लोगों को आज भी पाल सकता है। मैंने तो इससे बिलकुल अलग, यहाँ की राजनीतिक अवस्था की दृष्टि से ही सन्तति-निरोध चाहनेवालों का साथ दिया है।

मैं यह बात अवश्य कहता हूँ कि सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा पूरी हो जाने के पश्चात् मनुष्यों को विषय-भोग से दूर होना होगा। आत्म-संयम के उपाय लोकप्रिय और प्रभावशाली बनाये जा सकते हैं। शिक्षित लोगों ने कभी उनकी परीक्षा ही नहीं की। संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा की कृपा से लोगों को अभी उसका भार विदित ही नहीं हुआ है। जिन्होंने मालूम किया है, उन्होंने उसमें के नैतिक प्रश्नों पर विचार ही नहीं किया है। ब्रह्मचर्य पर कुछ इधर-उधर के व्याख्यानों के अतिरिक्त, सन्तानोत्पत्ति को मर्यादित करने के उद्देश्य से आत्म-संयम के प्रचार का कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया गया है। वरन् उलटे यही भ्रम अब भी फैला हुआ है कि बड़ा परिवार होना कुछ शुभ लक्षण है और इसलिये वाञ्छनीय है। धर्मोपदेशक सर्वसाधारण को यह उपदेश नहीं

देते कि अवसर प्राप्त होने पर सन्तानोत्पत्ति को रोकना भी वैसा ही धर्म है जैसा कि सन्तान की वृद्धि करना।

मुझे भय है कि कृत्रिम साधनों के पक्षपाती यह बात पक्की मान लेते हैं कि विषय-विकार की तृप्ति जीवन के लिये आवश्यक है, इसी से अपने आप ही इष्ट वस्तु है। अबला जाति के लिये जो चिन्ता दिखलाई गई है, वह तो अत्यन्त करुणा-जनक है। मेरी सम्मति में तो कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति-निरोध के समर्थन में नारी-जाति को सामने ला रखना, उनका अपमान करना है। एक तो यों ही पुरुष जाति ने अपनी विषय-तृप्ति के लिये उन्हें अत्यन्त नीचे गिरा डाला है और अब कृत्रिम साधनों के पक्षपातियों के उद्देश्य चाहे कितने ही भले क्यों न हों, किन्तु वे उन्हें और नीचे गिराये बिना नहीं रहेंगे। हाँ, मैं जानता हूँ कि आज कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो स्वयं ही इन साधनों का पक्ष लेती हैं। पर मुझे इस बात में कोई संदेह नहीं है कि स्त्रियों की एक बहुत बड़ी संख्या इन साधनों को अपने गौरव के विरुद्ध समझकर उनका निरादर करेगी। यदि पुरुष सचमुच स्त्री-जाति का हित चाहते हैं, तो उन्हें चाहिए कि वे स्वयं ही अपने मन को वश में रक्खें। स्त्रियाँ पुरुषों को नहीं लुभातीं। सच पूछिए तो पुरुष स्वयं ही ज्यादती करता है अतः वही सच्चा अपराधी और ललचानेवाला है।

मैं कृत्रिम साधनों के समर्थकों से आग्रह करता हूँ कि वे इसके परिणामों पर ध्यान दें। इन साधनों के अतिशय उपयोग का फल, विवाह-बंधन का नाश और मनमाने प्रेम सम्बन्ध की बढ़ती होगी। कोई कहता है, मनुष्य के लिये विषय-विकार की तृप्ति आवश्यक ही हो जाय, तब क्या किया जाय? इसका उत्तर सरल है। मान लीजिए कि वह बहुत दिनों तक अपने घर से दूर है या बहुत समय तक लड़ाई में लगा है, या वह विधुर है, या उसकी

पत्नी ऐसी रोगिणी है कि कृत्रिम साधनों का उपयोग करते हुए भी उसकी विषय-तृप्ति के अयोग्य है। ऐसी अवस्था में वह क्या करेगा? वही उस समय भी करना चाहिए।

किन्तु दूसरे लेखक का कहना है:—"संतति-निरोध सम्बन्धी अपने लेख में आप यह कहते हैं कि कृत्रिम साधन बिलकुल ही हानिकारक हैं। परन्तु आप उसी बात को स्वयं ही सिद्ध मान लेते हैं, जिसे कि सिद्ध करना है! संतति-निरोध-सम्मेलन (लंदन, १९२२) में ३ मतों के विरुद्ध १६४ मतों से यह स्वीकार कर लिया गया था कि गर्भ को न ठहरने देने के उपाय स्वास्थ्यकर हैं; नीति, न्याय और शरीर-विज्ञान की दृष्टि से गर्भपात इससे बिलकुल ही भिन्न है और यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो पाई है कि ऐसे सर्वोत्तम उपाय स्वास्थ्य के लिये हानिकारक या वंध्यात्व के उत्पादक हैं। मेरी समझ में ऐसी संस्था की सम्मति कलम के एकही झटके से रद्द नहीं की जा सकती। आप लिखते हैं कि बाह्य साधनों का उपयोग करने से तो शरीर और मन निर्बल हो जाने चाहिएँ। क्यों हो जाने चाहिएँ? मैं कहता हूँ कि उचित उपायों के प्रयोग से निर्बलता नहीं आती। हाँ, हानिकारक उपायों से अवश्य आती है और इसीलिये पकी आयु के लोगों को इसके योग्य उचित उपाय सिखाना आवश्यक है। संयम के लिये आपके उपाय भी तो कृत्रिम साधन ही होंगे। आप कहते हैं, संभोग करना आनन्द के लिये नहीं बनाया गया है! किसने नहीं बनाया है? ईश्वर ने? तो फिर उसने संभोग की इच्छा ही किस लिये पैदा की? प्राकृतिक नियमों में कार्यों का फल अनिवार्य है। किन्तु आपकी यह युक्ति जब तक आप यह सिद्ध न करें कि कृत्रिम साधन हानिकारक हैं, कौड़ी काम की नहीं है। कार्यों के अच्छे बुरे होने की पहचान उनके

परिणाम से होती है। ब्रह्मचर्य के लाभ बहुत बढ़ाकर कहे गये हैं। बहुत-से डाक्टर बाईस वर्ष की या ऐसी ही कुछ आयु के पश्चात् संभोग के द्वारा वीर्य-पात न करने को हानिकारक मानते हैं। यह आपके धार्मिक आग्रह का परिणाम है कि आप प्रजोत्पति के हेतु के बिना संभोग को पाप मानते हैं। इससे सब पर आप पाप का आरोपण करते हैं। शरीर-विज्ञान यह नहीं कहता। ऐसे आग्रहों के सामने विज्ञान को कम महत्त्व देने के दिन अब बहुत दूर चले गये हैं।"

लेखक शायद अपना समाधान नहीं चाहते। मैंने तो यह दिखलाने के लिये पर्याप्त उदाहरण दे दिये हैं कि यदि हम विवाह-बंधन की पवित्रता को स्थिर रखना चाहते हैं, तो भोग नहीं, वरन् आत्म-संयम ही जीवन का धर्म समझा जाना चाहिए। जो बात सिद्ध करनी है, उसी को मैंने सिद्ध नहीं मान लिया है। क्योंकि मैं यह कहता हूँ कि कृत्रिम साधन चाहे कितने ही उचित क्यों न हों, पर हैं वे हानिकारक ही। वे स्वयं चाहे हानिकारक न भी हों, पर वे इस तरह हानिकर अवश्य हैं कि उनके द्वारा विषय-विकार की भूख उद्दीप्त होती है और ज्यों-ज्यों उनका सेवन किया जाता है त्यों-त्यों बढ़ती जाती है। जिसके मन को यह मानने का अभ्यास पड़ा हो कि विषय-भोग न केवल उचित ही, वरन् करने योग्य वस्तु भी है, वह भोग में ही सदा रत रहेगा और अन्त को इतना निर्बल हो जायगा कि उसकी संकल्प-शक्ति नष्ट हो जायगी। मैं जोरों से कहता हूँ कि हर बार के विषय-भोग से मनुष्य की वह अमूल्य शक्ति कम होती है, जो पुरुष और स्त्री, दोनों के शरीर मन और आत्मा को शक्तिशाली रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इससे पहले मैंने इस विवाद से आत्मा शब्द को जान-बूझ कर अलग रक्खा था, क्योंकि पत्र-लेखक उसके अस्तित्व का

विचार ही करते हुए नहीं दिखाई देते, और इस विवाद में मुझे केवल उनकी युक्तियों का उत्तर देना है। भारतवर्ष में एक तो यों ही विवाहित लोगों की संख्या बहुत बड़ी है, फिर यह देश निःसत्त्व भी बहुत हो चुका है। यदि और किसी कारण से नहीं, तो उसकी गई हुई जीवनी-शक्ति को लौटा लाने के लिये ही उसे ही कृत्रिम साधनों के द्वारा विषय-भोग की नहीं, वरन् पूर्ण संयम की शिक्षा की ही आवश्यकता है। हमारे समाचार-पत्रों को देखिए। अनीतिमूलक औषधियों के विज्ञापन उनका आकार बिगाड़ रहे हैं। कृत्रिम साधनों के पक्षपाती उन्हें अपने लिये चेतावनी समझें। लज्जा या झूठे संकोच का कोई भाव मुझे इसकी चर्चा से नहीं रोक रहा है; वरन् यह ज्ञान मुझसे संयम करा रहा है कि इस देश के जीवनी-शक्ति से हीन और निर्बल युवक विषय-भोग के पक्ष में उपस्थित की गई सदोष युक्तियों के कितनी सरलता से लक्ष्य बन जाते हैं।

अब शायद इस बात की जरूरत नहीं रह गई है कि मैं दूसरे पत्र-लेखक द्वारा उपस्थित डॉक्टरी प्रमाण पत्रों का उत्तर दूँ। मेरे पक्ष से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं इस बात की न तो पुष्टि ही करता हूं और न इससे इन्कार ही कि उचित कृत्रिम साधनों से अवयवों को हानि पहुँचती है या वंध्यापन होता है। डाक्टर लोग चाहे कितनी ही सुन्दरता से युक्तियों की व्यूह-रचना क्यों न करें, किन्तु उनके कारण उन सैकड़ों नवयुवकों के जीवन का सत्यानाश असिद्ध नहीं हो सकता, जो दूसरे की स्त्रियों या स्वयं अपनी ही पत्नियों के साथ अति भोग-विलास के कारण हुआ है और जिसे मैंने स्वयं देखा है।

पत्र-लेखक की दी हुई कृत्रिम दाँत आदि की उपमा उपयुक्त नहीं जान पड़ती। हाँ, बनावटी दाँत अवश्य ही नकली और

अस्वाभाविक होते हैं, पर उनसे कम-से-कम एक आवश्यकता की पूर्ति तो हो सकती है। किन्तु इसके विरुद्ध विषय-भोग के लिये कृत्रिम साधनों का प्रयोग वह भोजन है जो भूख बुझाने के लिये नहीं वरन् जीभ की तृप्ति के लिये किया जाता है। केवल जीभ के आनन्द के लिये भोजन करना उसी तरह पाप है जिस तरह कि विषय-भोग के लिये भोग-विलास करना।

इस अन्तिम पत्र में एक नई ही बात मिलती है:—"यह प्रश्न संसार के सभी राज्यों को चिन्तित कर रहा है। निःसन्देह, आप यह तो जानते ही होंगे कि अमेरिका इसके प्रचार के विरुद्ध है। आपने यह भी सुना होगा कि जापान ने इसके प्रचार के विषय में आम आज्ञा दे दी है। इसका कारण सबको विदित है। उन्हें प्रजोत्पत्ति रोकनी थी। इसके लिये मनुष्य-स्वभाव का भी उन्हें विचार करना था। आपका नुस्खा आदर्श हो सकता है, किन्तु क्या वह व्यावहारिक भी है? थोड़े मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं परन्तु क्या जनता में इसके सम्बन्ध में की गई किसी हलचल से कुछ मतलब हल हो सकता है? भारतवर्ष में तो इसके लिये सामुदायिक हलचल की आवश्यकता है।"

मुझे अमेरिका और जापान की इन बातों का पता नहीं था। मालूम नहीं, जापान क्यों कृत्रिम साधनों का पक्ष ले रहा है। यदि लेखक की बात सही है और सचमुच जापान में कृत्रिम साधन आम चीज हो रहे हैं, तो मैं साहस के साथ कहता हूँ कि यह सुन्दर राष्ट्र नैतिक सत्यानाश की ओर दौड़ा जा रहा है।

हो सकता है कि मेरा ख्याल एक दम सही न हो। सम्भव है कि मेरे निर्णय गलत सामग्री के आधार पर निकले हों। परन्तु कृत्रिम साधनों के पक्षपातियों को धीरज रखने की आवश्यकता है। आधुनिक उदाहरणों के अतिरिक्त उनके पक्ष में कोई सामग्री नहीं

है। निश्चय ही एक ऐसे साधन के विषय में, जो कि यों देखने में ही मनुष्य-जाति के नैतिक भावों को घृणास्पद मालूम पड़ता है, किसी अंश तक निश्चय के साथ कुछ भविष्य कथन करना बड़ी उतावली का काम होगा। युवापन के साथ खिलवाड़ करना तो बहुत सरल है; परन्तु ऐसे दुष्परिणामों को मिटाना टेढ़ी खीर होगी।

ग्यारहवाँ अध्याय

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य तथा उसके पालन के साधनों के विषय में मेरे पास पत्रों की बाढ़-सी आ रही है। दूसरे अवसरों पर मैं जो कुछ कह या लिख चुका हूँ उसे ही यहाँ दूसरे शब्दों में कहने की चेष्टा करूँगा। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल शारीरिक संयम ही नहीं है, वरन् उसका अर्थ है, सभी इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार, तथा मन, वचन और शरीर से भी काम भाव से मुक्ति। इस स्वरूप में आत्मज्ञान या ब्रह्म-प्राप्ति का यही सुगम और सच्चा रास्ता है।

आदर्श ब्रह्मचारी को कामेच्छा या सन्तान की इच्छा से कभी जूझना नहीं पड़ता; यह कभी उसे होती ही नहीं। उसके लिये समस्त संसार विशाल परिवार होगा, मनुष्य जाति के कष्ट दूर करने में ही वह अपने को कृतार्थ मानेगा, और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा उसके लिये अत्यन्त साधारण बात मालूम होगी। जो मनुष्य जाति के दुःख से पूरा-पूरा परिचित है, उसे कभी कामेच्छा होगी ही नहीं। उसे अपने भीतर के शक्ति-कोष का पता अपने

आपही लग जायगा और वह उसे शुद्ध रखने की बराबर चेष्टा करता रहेगा। उसकी नम्र शक्ति पर संसार श्रद्धा रक्खेगा, और पद-प्राप्त राजाओं से भी उसका प्रभाव बढ़ा-चढ़ा होगा।

परन्तु लोग मुझसे कहते हैं कि 'यह असम्भव आदर्श है, आप तो नर और नारी के बीच के स्वाभाविक आकर्षण का ध्यान ही नहीं रखते।' यहाँ जिस कामुक खिंचाव का इशारा है, मैं उसे स्वाभाविक मानने से ही इनकार करता हूँ। यदि वह स्वाभाविक हो, तो प्रलय बात-की-बात में ही आया चाहती है। नर और नारी के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध वह है, जो भाई और बहन में, माँ और बेटे में, बाप और बेटी में होता है। उसी स्वाभाविक आकर्षण पर संसार टिका हुआ है। मैं यदि सारी नारी-जाति को माँ, बहन या बेटी न मानूँ, तो अपना कार्य करना तो दूर, मैं जी ही न सकूँगा। यदि काम-भरी आँखों से मैं उनकी ओर देखूँ, तो मेरे लिये नरक का सबसे सीधा और सच्चा मार्ग और क्या होगा?

सन्तानोत्पत्ति स्वाभाविक क्रिया अवश्य है, किन्तु निश्चित मर्यादा के भीतर। उस मर्यादा को तोड़ने से नारी-जाति खतरे में पड़ती है, जाति-समस्त का पुरुषत्व नष्ट होता है, रोग फैलते हैं, पाप का बोलबाला होता है, और संसार पाप-भूमि बनता है। कामनाओं के पञ्जे में फँसा हुआ मनुष्य, बेलङ्गर की नौका के समान होता है। यदि ऐसा आदमी समाज का नेता हो, अपने लेखों से वह समाज को व्याप्त कर दे, और लोग उसके पीछे चलने लगें, तो फिर समाज रहेगा कहाँ? और तो भी आज वही हो रहा है। मान लो कि प्रकाश के चारों ओर चक्कर लगानेवाला पतिङ्गा अपने क्षणिक आनन्द का वर्णन करे और उसे आदर्श मानकर हम उसकी नकल करें, तो हमारा कहाँ ठिकाना लगेगा?

नहीं, अपनी सारी शक्ति लगाकर मुझे कहना ही पड़ेगा कि पति और पत्नी के बीच भी काम का आकर्षण अस्वाभाविक और अप्राकृतिक है। विवाह का उद्देश्य दम्पति के हृदयों से विकारों को दूर करके उन्हें ईश्वर के निकट ले जाना है। कामना-रहित प्रेम, पति-पत्नी के बीच असम्भव नहीं है। मनुष्य पशु नहीं है। पशु-योनि में अगणित जन्म लेने के बाद वह उस पद पर आया है। उसका जन्म सिर ऊँचा करके चलने के लिये हुआ है, लेटे-लेटे या पेट के बल रेंगने के लिये नहीं। पुरुषत्व से पाशविकता उतनी ही दूर है जितनी आत्मा से शरीर।

उपसंहार में मैं इसकी प्राप्ति के उपायों को संक्षेप में लिखूंगा। इसकी आवश्यकता को समझना पहला काम है।

दूसरा है, इन्द्रियों पर क्रमशः अधिकार करना। ब्रह्मचारी को जीभ पर अधिकार पाना ही होगा। वह जीवन-धारण के लिये ही खा सकेगा, आनन्द के लिये नहीं। उसे केवल पवित्र वस्तुएँ ही देखनी और अपवित्र वस्तुओं की ओर से आँखें मूँद लेनी होंगी। इधर-उधर आँखें न नचाते हुए दृष्टि नीचे की ओर करके रास्ता चलना शिष्टता का चिह्न है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी कोई अश्लील या बुरी बात नहीं सुनेगा, कोई बहुत बलवान् या उत्तेजक गंध नहीं सूँघेगा। पवित्र मिट्टी की गंध बनावटी इत्र और सुगंधियों से कहीं अच्छी होती है। ब्रह्मचर्य-पालन के इच्छुक को चाहिये कि वह जब तक जाग्रतावस्था में रहे अपने हाथ-पाँवों से कोई न कोई अच्छा काम लेता ही रहे। वह कभी-कभी उपवास भी कर लिया करे।

तीसरा काम है, शुद्ध साथियों, निष्कलंक मित्रों और पवित्र पुस्तकों को रखना।

अन्तिम काम है प्रार्थना, यह किसी से कम महत्त्ववाला नहीं।

ब्रह्मचारी नित्य ही एकाग्र चित्त से 'राम' नाम का जप किया करे और ईश्वर की सहायता मांगे। साधारण पुरुष या स्त्री के लिये इनमें कोई बात कठिन नहीं है। किन्तु इनकी सादगी से ही लोग घबड़ाते हैं। जहाँ चाह है, वहाँ राह भी सरलता से मिल जायगी। लोगों को इसकी चाह नहीं होती और इसलिये वे व्यर्थ ठोकरें खाते हैं। इस बात से कि संसार का आधार कुछ-न-कुछ इसी पर है कि लोग ब्रह्मचर्य या संयम का पालन करते हैं, यही सिद्ध होता है कि यह आवश्यक और सम्भव है।

बारहवाँ अध्याय

सत्य बनाम ब्रह्मचर्य

एक मित्र ने महादेव देसाई को लिखा है:—

"आपको याद होगा कि "नवजीवन" में गान्धीजी ने ब्रह्मचर्य पर एक लेख में, जिसका कि आपने 'यंग इंडिया' के लिये अनुवाद किया था, स्वीकार किया था कि उन्हें अब भी कभी-कभी स्वप्नदोष हो जाया करते हैं। उसे पढ़ने के साथ ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐसे लेखों से कोई लाभ नहीं हो सकता। पीछे से मुझे मालूम हुआ कि मेरा यह भय निर्मूल नहीं था।

"विलायत के प्रवास में प्रलोभनों के रहते हुए भी मैंने और मेरे मित्रों ने अपना चरित्र निष्कलंक रक्खा। स्त्री, मदिरा और मांस से हम बिलकुल बचे रहे। किन्तु गान्धी जी का लेख पढ़-

कर एक मित्र ने कहा—"गान्धी जी के भीष्म प्रयत्नों के बाद भी यदि उनकी यह दशा है तो हम किस खेत की मूली हैं? ब्रह्मचर्य-पालन का प्रयत्न व्यर्थ है। गान्धीजी की स्वीकारोक्ति ने मेरी दृष्टि एकदम बदल दी है। आज से तुम मुझे गया बीता समझ लो।" कुछ हिचकिचाहट के साथ मैंने उससे विवाद करने की चेष्टा की। जो युक्तियाँ आप या गान्धीजी उपस्थित करते, वैसी ही मैंने कहीं, यदि यह मार्ग गान्धीजी जैसों के लिये भी इतना कठिन है, तो हमारे तुम्हारे लिये अवश्य ही और भी अधिक कठिन होना चाहिए। इसलिए हमें दुगुनी चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु व्यर्थ ही। आज तक जिस भाई का चरित्र निष्कलङ्क रहा था, उसमें यों धब्बे लग गये। यदि इस पतन के लिये कोई गान्धीजी को उत्तरदायी कहे, तो वे या आप क्या कहेंगे?

"जब तक मेरे पास केवल एकही उदाहरण था, मैंने आपको नहीं लिखा। शायद आप मुझे यह कहकर टाल देते कि यह अपवाद है! किन्तु इसके और कई उदाहरण मिले और मेरी आशंका और भी सच साबित हुई।

"मैं जानता हूं कि कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जो गान्धीजी के लिये करनी बहुत ही सरल हों, किन्तु मेरे लिये असम्भव हों। परन्तु ईश्वर की कृपा से मैं यह भी कह सकता हूं कि कुछ वस्तुएँ जो मेरे लिये सम्भव हों, उनके लिये असम्भव भी हो सकती हैं। इसी ज्ञान या अहंभाव ने मुझे अब तक गिरने से बचाया है, यद्यपि ऊपर लिखी गान्धीजी की स्वीकारोक्ति ने मेरे मन से निर्भयता का भाव बिलकुल डिगा दिया है।

"क्या आप गान्धीजी का ध्यान इस ओर दिलावेंगे और मुख्यकर तब जब कि वे अपनी आत्मकथा लिख रहे हैं। सत्य और नंगे सत्य को कह देना निःसन्देह वीरता का काम है, किन्तु

इससे 'नवजीवन' और 'यंगइण्डिया' के पाठकों में भ्रामकता फैलने का भय है। मुझे भय है कि एक के लिये जो अमृत हो, वही दूसरे के लिये कहीं विष न हो जाय।"

इस कथन से मुझे कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। जब कि असहयोग अपने उन्नति पर था, उस समय मैंने अपनी एक भूल स्वीकार की थी। इसपर एक मित्र ने निर्दोष-भाव से लिखा था:—"यदि यह भूल भी थी, तो आपको उसे न मान लेना था। लोगों में यह विश्वास बढ़ाना चाहिए कि कम-से-कम एक आदमी तो ऐसा है, जो चूकता नहीं, आपको लोग ऐसा ही समझते थे। आपकी स्वीकारोक्ति से उनका दिल बैठ जायगा।" इसपर मुझे हँसी आई और मैं उदास भी हो गया। पत्र-लेखक की सादगी पर मुझे हँसी आई। किन्तु यह विचार ही मेरे लिये असह्य था कि लोगों को विश्वास दिलाया जाय कि एक पतनशील, चूकनेवाला मनुष्य, अपतनशील या अचूक है।

किसी भी आदमी के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से लोगों को लाभ सदैव हो सकता है, हानि कभी नहीं। मैं दृढ़ता-पूर्वक विश्वास करता हूँ कि मेरे तुरत ही अपनी भूलें स्वीकार कर लेने से उनका लाभ ही हुआ। अस्तु, किसी दशा में मेरे लिये तो सर्वोत्तम ही सिद्ध हुआ है।

बुरे स्वप्न होना स्वीकार करना भी मैं वैसी ही बात मानता हूँ। यदि सम्पूर्ण ब्रह्मचारी हुए बिना मैं इसका दावा करूँ, तो इससे संसार की मैं बहुत बड़ी हानि करूँगा। क्योंकि ब्रह्मचर्य में दाग लगेगा और सत्य का प्रकाश धुँधला पड़ेगा। झूठे बहानों के द्वारा ब्रह्मचर्य का मूल्य कम करने का साहस मैं क्यों कर कर सकता हूँ? आज मैं देखता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन के जो उपाय मैं बतलाता हूँ वे पूरे नहीं पड़ते, सभी जगह उनका एक-सा प्रभाव

नहीं होता, क्योंकि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। जब कि ब्रह्मचर्य का सच्चा मार्ग मैं दिखा न सकूँ, संसार के लिये यह विश्वास करना कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ, बड़ी भयंकर बात होगी।

केवल इतना ही जानना संसार के लिये यथेष्ट क्यों न हो कि मैं सच्चा खोजी हूँ, पूरा जाग्रत हूँ, सतत प्रयत्नशील हूँ और विघ्न-बाधाओं से डरता नहीं? औरों को उत्साहित करने के लिये इतना ही ज्ञान पर्याप्त क्यों न होवे? झूठे प्रमाणों द्वारा परिणाम निकालना भूल है। जो बातें प्राप्त की जा चुकी हैं, उन्हीं पर से परिणाम निकालना सब से अधिक ठीक है। ऐसी युक्ति ही क्यों की जाय कि मेरे समान आदमी जब बुरे विचारों से न बच सका तो दूसरों के लिये कोई आशा ही नहीं है? क्यों न सोचा जाय कि वह गांधी, जो किसी समय में काम के अभिभूत था, आज यदि अपनी पत्नी के साथ भाई या मित्र के समान रह सकता है, और संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों को भी बहन या बेटी के रूप में देख सकता है तो नीच-से-नीच और पतित मनुष्य के लिये भी आशा है! यदि ईश्वर ने इतने विकारों से भरे हुए मनुष्य पर अपनी दया दिखलाई, तो निश्चय ही वह दूसरों पर भी दया दिखावेगा ही।

पत्र-लेखक के जो मित्र मेरी न्यूनताओं को जान करके पीछे हट पड़े, वे कभी आगे बढ़े ही नहीं थे। यह तो झूठी साधुता कही जायगी, जो पहले ही धक्के में चूर हो गई। सत्य, ब्रह्मचर्य और दूसरे ऐसे सनातन सत्य मेरे समान अपूर्ण मनुष्यों पर निर्भर नहीं रहते। उनका आधार अविचल रहता है, उन बहुतों की तपश्चर्या पर, जिन्होंने उनके लिये प्रयत्न किया और उनका संपूर्ण पालन किया। उन संपूर्ण जीवों के साथ बराबरी में खड़े होने की योग्यता जिस घड़ी मुझमें आ जायगी, तब आज की अपेक्षा, मेरी भाषा

में कहीं अधिक निश्चय और शक्ति होगी। वास्तव में स्वस्थ पुरुष उसी को कहेंगे जिसके विचार इधर-उधर दौड़े नहीं फिरते, जिसके मन में बुरे विचार नहीं उठते, जिसकी नींद में स्वप्नों से व्याघात न पड़ता हो और जो सोते हुए भी सम्पूर्ण जाग्रत हों। उसे कुनैन लेने की आवश्यकता नहीं। उसके न बिगड़नेवाले रुधिर में ही सभी विकारों को दबा लेने की आन्तरिक शक्ति होगी। शरीर, मन और आत्मा की उसी स्वस्थ अवस्था को मैं पाने की चेष्टा कर रहा हूँ। इसमें हार या असफलता नहीं हो सकती। पत्र-लेखक, उनके संशयालु मित्रों और दूसरों को मैं अपने साथ चलने को निमन्त्रण देता हूँ और चाहता हूँ कि पत्र-लेखक के ही समान वे मुझसे अधिक वेग से आगे बढ़ चलें। जो मेरे पीछे पड़े हैं, मेरे उदाहरण से उन्हें भरोसा पैदा हो। जो कुछ मैंने पाया है, वह सब मुझमें लाख निर्बलता के होते हुए भी, कामुकता के होते हुए भी, मैंने पाया है—और उसका कारण है, मेरा सतत प्रयत्न और ईश्वर-कृपा में अनन्त विश्वास।

इसलिये किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं। मेरा महात्मापन कौड़ी काम का नहीं है। यह तो मेरे बाहरी कामों, मेरे राजनीतिक कामों के कारण है, और ये काम मेरे सबसे छोटे काम हैं, और इसलिये यह दो दिनों में उड़ जायगा। वास्तव में मूल्यवान् वस्तु तो मेरा सत्य, अहिंसा, और ब्रह्मचर्य-पालन का ही है यही मेरा सच्चा अंग है। मेरा यह स्थायी अंश चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, किन्तु घृणा की दृष्टि से देखने योग्य नहीं है। यही मेरा सर्वस्व है। मैं तो असफलताओं और भूलों के ज्ञान को भी प्यार करता हूं, जो उन्नति-पथ की ही सीढ़ियाँ हैं।

तेरहवाँ अध्याय

वीर्य-रक्षा

कितनी ही नाजुक समस्याओं पर केवल खानगी में ही बात-चीत करने की इच्छा रहते हुए भी, उन पर प्रकट रूप में विचार करने के लिये, पाठकगण मुझे क्षमा करें। जिस साहित्य का मुझे विवश होकर अध्ययन करना पड़ा है, तथा महाशय 'ब्यूरो' की पुस्तक की आलोचना पर मेरे पास जो अनेक पत्र आये हैं, उनके कारण समाज के लिये इस परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकट चर्चा करनी आवश्यक हो गई। एक मलाबारी भाई लिखते हैं—

"आप महाशय 'ब्यूरो' की पुस्तक की अपनी समालोचना में लिखते हैं कि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता कि ब्रह्मचर्य-पालन वा दीर्घकाल के संयम से किसी को कुछ हानि पहुँची हो। अस्तु, अपने लिये तो तीन सप्ताह से अधिक दिनों तक संयम रखना हानिकारक ही मालूम होता है। इतने समय के पश्चात् प्रायः मेरे शरीर में भारीपन का तथा चित्त और अंग में बेचैनी का अनुभव होने लगता है, जिससे मन भी चिड़चिड़ा-सा हो जाता है। विश्राम तभी मिलता है जब संभोग द्वारा या प्रकृति की कृपा होने से, यों ही, कुछ वीर्यपात हो लेता है। दूसरे दिन प्रातःकाल शरीर वा मन की निर्बलता का अनुभव करने के बदले में शान्त और हलका हो जाता हूं और अपने काम में अधिक उत्साह से लगता हूं।

'मेरे एक मित्र को तो संयम हानिकारक ही सिद्ध हुआ है।

उनकी आयु कोई ३२ साल की होगी। वह बड़े ही कट्टर शाकाहारी और धर्मिष्ट पुरुष हैं। उनके शरीर या मन का एक भी दुर्व्यसन नहीं है। किन्तु तो भी, दो साल पहले तक उन्हें स्वप्न-दोष में बहुत वीर्यपात हो जाया करता था, जिसके बाद वह बहुत निर्बल और निरुत्साह हो जाते थे। उसी समय उन्होंने विवाह किया। पेट की पीड़ा की भी कोई बीमारी उन्हें उसी समय हो गई। किसी आयुर्वेदिक वैद्यराज की सलाह से उन्होंने विवाह कर लिया, और अब वह बिलकुल अच्छे हैं।

"ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता को, जिस पर हमारे सभी शास्त्र एकमत हैं, मैं बुद्धि से तो मानता हूं, पर जिन अनुभवों का वर्णन मैंने ऊपर किया है, उनसे तो स्पष्ट है कि शुक्रग्रंथियों से जो वीर्य निकलता है, उसे शरीर में ही पचा लेने की शक्ति हममें नहीं है। इसलिये वह विष बन जाता है। अतएव, मैं आपसे सविनय अनुरोध करता हूं कि मेरे समान लोगों के लिये, जिन्हें ब्रह्मचर्य एवं आत्म-संयम के महत्व के विषय में कुछ सन्देह नहीं है, 'यं० इं०' में हठयोग वा प्राणायाम के कुछ साधन बताइये, जिनके सहारे हम अपने शरीर में इस प्राणशक्ति को पचा सकें।"

इन भाइयों के अनुभव असाधारण नहीं हैं, वरन् बहुतों के ऐसे ही अनुभवों के नमूने-मात्र हैं। ऐसे उदाहरण मैं जानता हूं, जब कि अपूर्ण प्रमाणों को ही लेकर साधारण नियम निकालने में उतावली की गई है। उस प्राणशक्ति को शरीर में ही बचा रखने और फिर पचा लेने की योग्यता बहुत अभ्यास से आती है। ऐसा तो होना भी चाहिए, क्योंकि किसी दूसरी साधना से शरीर और मन को इतनी शक्ति नहीं प्राप्त होती। यह माना जा सकता है कि दवाएँ और यंत्र, शरीर को अच्छी और कामचलाऊ दशा में रख सकते हैं, किन्तु उनसे चित्त इतना निर्बल हो जाता है कि

वह मनोविकारों का दमन नहीं कर सकता और ये मनोविकार प्राणघातक शत्रु के समान हर किसी को घेरे रहते हैं।

हम काम तो वैसे करते हैं जिनसे लाभ तो दूर, उलटे हानि ही होनी चाहिए, परन्तु साधारण संयम से ही बहुत लाभ की आशा बार-बार किया करते हैं। हमारा साधारण जीवन-क्रम विकारों को तृप्त करने के लिये ही बनाया जाता है, हमारा भोजन, साहित्य, मनोरंजन, काम का समय, ये सभी कुछ हमारे पाशविक विकारों को ही उत्तेजित और सन्तुष्ट करने के लिये निश्चित किये जाते हैं। हममें से अधिकांश की इच्छा विवाह करने, लड़के पैदा करने की भले ही थोड़े संयत रूप में हो, किन्तु साधारणतः सुख भोगने की ही होती है। अन्त तक कुछ न कुछ ऐसा होता ही रहेगा।

किन्तु साधारण नियम के अपवाद जैसे सदैव से होते आये हैं, वैसे अब भी होते हैं। ऐसे भी मनुष्य हुए हैं, जिन्होंने मानव-जाति की सेवा में, या यों कहिये कि भगवान् की ही सेवा में, जीवन लगा देना चाहा है। वे विश्व-कुटुम्ब की और अपने कुटुम्ब की सेवा में अपना समय अलग-अलग बाँटना नहीं चाहते। अवश्य ही ऐसे मनुष्यों के लिये उस प्रकार रहना सम्भव नहीं है जिस जीवन से मुख्य कर किसी व्यक्ति विशेष की ही उन्नति संभव हो। जो भगवान् की सेवा के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत लेंगे, उन पुरुषों को जीवन की ढिलाइयों को छोड़ देना पड़ेगा और इस कठोर संयम में ही सुख का अनुभव करना होगा। 'संसार में' भले ही रहें, किन्तु वे 'संसारी' नहीं हो सकते। उनका भोजन, धंधा, काम करने का समय, मनोरंजन, साहित्य, जीवन का उद्देश्य आदि सर्व साधारण से अवश्य ही भिन्न होंगे।

अब इस पर विचार करना चाहिए कि क्या पत्र-लेखक और

उनके मित्र ने सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन को अपना ध्येय बनाया था और क्या अपने जीवन को उसी ढांचे में ढाला भी था? यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया था, तो फिर यह समझने में कुछ कठिनाई नहीं होगी कि वीर्यपात से एक आदमी को विश्राम मिलता था और दूसरे को निर्बलता क्यों होती थी? उस दूसरे आदमी के लिये तो विवाह ही दवा थी। अधिकांश मनुष्यों के अपनी इच्छा के विरुद्ध भी जब मन में विवाह का ही विचार भरा हो, तो उस स्थिति में उन मनुष्यों के लिये विवाह ही प्रकृत और इष्ट है। जो विचार दबाया न जाकर अमूर्त ही छोड़ दिया जाता है, उसकी शक्ति, वैसे ही विचार की अपेक्षा जिसको हम मूर्त कर लेते हैं, अर्थात् जिसका व्यवहार कर लेते हैं, कहीं अधिक होती है। जब उस क्रिया का हम यथोचित संयम कर लेते हैं, तो उसका प्रभाव विचार पर भी पड़ता है और विचार का संयम भी होता है। इस प्रकार जिस विचार पर अमल कर लिया, वह बन्दी-सा बन जाता है और वश में आ जाता है। इस दृष्टि से विवाह भी एक प्रकार का संयम ही विदित होता है।

मेरे लिये, एक अखबारू लेख में, उन लोगों के लाभ के लिये, जो नियमित संयम जीवन बिताना चाहते हैं, ब्योरेवार सम्मति देनी ठीक न होगी। उन्हें तो मैं, कई वर्ष पहले इसी विषय पर लिखे हुए अपने ग्रन्थ "आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान" को पढ़ने की सम्मति दूंगा। नये अनुभवों के अनुसार, उसे कहीं-कहीं दुहराने की आवश्यकता अवश्य है, किन्तु उसमें एक भी ऐसी बात नहीं है, जिसे मैं लौटाना चाहूँ। हाँ, साधारण नियम यहाँ भले ही दिये जा सकते हैं—

(१) भोजन करने में सदैव संयम से काम लेना। थोड़ी मीठी भूख रहते ही चौके से सदैव उठ जाना।

(२) बहुत गर्म मसालों और घी-तेल से बने हुए शाकाहार से अवश्य बचना चाहिये। जब दूध पूरा मिलता हो, तो स्निग्ध (घी, तेल आदि चिकने) पदार्थ अलग से खाना एकदम अनावश्यक है! जब प्राणशक्ति का थोड़ा ही नाश हो, तो अल्प भोजन भी पर्याप्त होता है।

(३) मन और शरीर को सदैव ही शुद्ध काम में लगाये रखना।

(४) जल्दी सो जाना और सवेरे उठ बैठना परमावश्यक है।

(५) सबसे बड़ी बात तो यह है कि संयत जीवन व्यतीत करने में ही ईश्वर-प्राप्ति की उत्कट जीवन अभिलाषा मिली रहती है। जब इस परमतत्त्व का अनुभव प्रत्यक्ष हो जाता है, उस समय ईश्वर के ऊपर यह विश्वास बराबर बढ़ता ही जाता है, कि वह स्वयं ही अपने इस यंत्र को (मनुष्य के शरीर को) विशुद्ध और चालू रक्खेगा। गीता में कहा है—

> "विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
> रसवर्ज्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥"

यह अक्षरशः सत्य है।

पत्र-लेखक आसन और प्राणायाम की बात करते हैं, मेरा विश्वास है कि आत्म-संयम में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु मुझे खेद है कि इस विषय में मेरे अपने किये हुए अनुभव, कुछ ऐसे नहीं, जो लिखने योग्य हों। जहाँ तक मुझे विदित है, इस विषय पर इस समय के अनुभव के आधार पर लिखा हुआ साहित्य है ही नहीं। परन्तु यह विषय अध्ययन करने योग्य है। लेकिन मैं अपने अनभिज्ञ पाठकों को इसके प्रयोग करने या जो कोई हठयोगी मिल जाय, उसी को गुरु बना लेने से सावधान कर

देना चाहता हूँ। उन्हें निश्चय जान लेना चाहिये कि संयम और धार्मिक जीवन में ही अभीष्ट संयम के पालन की पर्याप्त शक्ति है।

चौदहवाँ अध्याय

एकान्त वार्ता

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में प्रश्न-कर्त्ताओं के इतने पत्र मेरे पास आते हैं, और इस विषय में मेरे विचार इतने दृढ़ हैं कि मैं, मुख्यतया राष्ट्र की इस सबसे नाज़ुक घड़ी में अपने विचारों और अनुभवों के परिणामों को पाठकों से छिपा नहीं सकता।

अंग्रेजी शब्द Celibacy का संस्कृत पर्याय ब्रह्मचर्य है, किन्तु ब्रह्मचर्य का अर्थ उससे कहीं अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है, सभी इन्द्रियों और विकारों पर संपूर्ण अधिकार। ब्रह्मचारी के लिये कुछ भी असम्भव नहीं। किन्तु यह एक आदर्श स्थिति है, जिसे विरले ही पा सकते हैं, जो केवल कल्पना में ही रहती है, प्रत्यक्ष खींची नहीं जा सकती। किन्तु तो भी ज्यामिति में यह परिभाषा महत्त्वपूर्ण है और इससे बड़े-बड़े परिणाम निकलते हैं। वैसे ही सम्पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना में ही रह सकता है। परन्तु यदि हम उसे मानसिक आँखों के आगे दिन-रात रक्खे न रहें, तो हम वेपेंदी के लोटे बने रहेंगे। काल्पनिक रेखा के जितने ही पास हम पहुँच सकेंगे, उतनी ही सम्पूर्णता भी प्राप्त होगी।

परन्तु, अभी के लिये तो मैं स्त्री-संभोग न करने के संकुचित अर्थ में ही ब्रह्मचर्य को लूंगा। मैं मानता हूं कि आत्मिक पूर्णता के लिये विचार, शब्द और कार्य सभी में सम्पूर्ण आत्म-संयम

जरूरी है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्य नहीं हैं, वह इस कमी के कारण गरीब गिना जायगा। किन्तु मेरा तात्पर्य राष्ट्र की वर्तमान दशा में अस्थायी ब्रह्मचर्य की आवश्यकता सिद्ध करने का है।

रोग, अकाल, दरिद्रता और यहाँ तक भूखमरी भी हमारे भाग में कुछ अधिक पड़ी। दासता की चक्की में हम इस सूक्ष्म रीति से पिसे चले जाते हैं कि यद्यपि हमारी इतनी आर्थिक, मानसिक और नैतिक हानि हो रही है, किन्तु हममें से कितने ही उसे दासता मानने को ही तैयार नहीं; और भूल से मानते हैं कि हम स्वाधीनता-पथ पर आगे बढ़े जा रहे हैं। दिन दूना रात चौगुना बढ़नेवाला सेना पर व्यय, लंकाशायर और दूसरे ब्रिटिश हितों के लिये ही जानबूझ कर लाभदायक बनाई गई हमारी अर्थ-नीति और सरकार के भिन्न-भिन्न विभागों को चलाने की राजकीय अमित-व्ययता ने देश के ऊपर वह भार लादा है, जिससे उसकी गरीबी बढ़ी है और रोगों का आक्रमण रोकने की शक्ति घटी है। गोखले के शब्दों में, इस शासन-नीति ने हमारी बाढ़ इतनी मार दी है कि हमारे बड़ों को भी झुकना पड़ता है। अमृतसर में भारतीयों को पेट के बल भी रेंगाया गया। पंजाब का जान-बूझ कर किया गया अपमान और हिन्दुस्तान के मुसलमानों को दिये गये वचन को तोड़ने के लिये क्षमा मांगने को गर्व पूर्वक अस्वीकार करना—नैतिक दासता के सबसे नये उदाहरण हैं। उनसे सीधे हमारी आत्मा को ही धक्का पहुँचता है। यदि हम इन दो अपराधों को सह लेवें, तो फिर यह हमारी नपुंसकता की पूर्ति ही कही जायगी।

हम लोगों के लिये जो स्थिति को जानते हैं, ऐसे बुरे वातावरण में सन्तान उत्पन्न करना क्या उचित है? जब तक हमें ऐसा मालूम होता है, हम बेबस, रोगी और अकाल-पीड़ित हैं, तब तक

सन्तानोत्पत्ति कर हम निर्बलों और दासों की ही संख्या बढ़ाते हैं। जब तक भारत स्वतंत्र देश नहीं हो जाता, जो अनिवार्य अकाल के समय अपने आहार का प्रबन्ध कर सके; हैजा, एन्फ्लुएंजा और दूसरी बीमारियों का इलाज करना जान जाय, हमें सन्तानोत्पत्ति करने का अधिकार ही नहीं है। पाठकों से मैं वह दुःख छिपा नहीं सकता, जो इस देश में बच्चों का जन्म सुन कर मुझे होता है। मुझे यह मानना ही पड़ेगा कि मैंने वर्षों तक धैर्य के साथ इस पर विचार किया है कि स्वेच्छा-संयम के द्वारा हम सन्तानोत्पत्ति रोक लेवें। भारतवर्ष को आप अपनी वर्तमान जन-संख्या की भी खोज-खबर लेने की शक्ति नहीं है, किन्तु इसलिये नहीं कि उसे अतिशय का रोग है, वरन् इसलिये कि उसके ऊपर वैदेशिक आधिपत्य है, जिसका मूल-मंत्र उसे अधिकाधिक लूटते जाना है।

सन्तानोत्पत्ति किस प्रकार रोकी जा सकेगी? यूरोप में जो अनैतिक और अप्राकृतिक या कृत्रिम साधन काम में लाये जाते हैं, उनसे नहीं वरन् आत्म-संयम और नियमित जीवन से। माता-पिता को अपने बालकों को ब्रह्मचर्य का अभ्यास कराना ही पड़ेगा। हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार बालकों के लिये विवाह करने की आयु कम-से-कम २५ वर्ष की होनी चाहिये। यदि भारतवर्ष की माताएँ यह विश्वास कर सकें कि लड़के-लड़कियों को विवाहित जीवन की शिक्षा देना पाप है, तो आधे विवाह तो आप ही रुक जायँगे। फिर, हमें अपनी गर्म जल-वायु के कारण लड़कियों के शीघ्र रजस्वला हो जाने के झूठे सिद्धान्त में भी विश्वास करने की आवश्यकता नहीं है। इस शीघ्र सयानेपन के समान दूसरा भद्दा अन्धविश्वास मैंने नहीं देखा है। मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि यौवन से जलवायु का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। असमय

के यौवन का कारण हमारे पारिवारिक जीवन का नैतिक और मानसिक वायुमण्डल है। माताएँ और दूसरे सम्बन्धी अवोध बच्चों को यह सिखलाना धार्मिक कर्त्तव्य-सा मान बैठते हैं कि "इतनी" बड़ी आयु होने पर तुम्हारा विवाह होगा! बालकपन में ही, वरन् माता की गोद में ही उनकी सगाई कर दी जाती है! बच्चों के भोजन और कपड़े भी उन्हें उत्तेजित करते हैं। हम अपने बालकों को गुड़ियों की तरह सजाते हैं—उनके नहीं, वरन् अपने सुख और अभिमान के लिये! मैंने बीसों लड़कों को पाला है। उन्होंने बिना किसी कठिनाई के जो कपड़ा उन्हें दिया गया, उसे आनन्दपूर्वक पहन लिया है। उन्हें हम सैकड़ों प्रकार की गर्म और उत्तेजक वस्तुएँ खाने को देते हैं, अपने अन्ध प्रेम में उनकी शक्ति की कोई चिन्ता नहीं करते। निःसन्देह, फल मिलता है, शीघ्र यौवन, असमय सन्तानोत्पत्ति और अकाल मृत्यु! माता-पिता पदार्थ-पाठ देते हैं. जिसे बच्चे सहज ही सीख लेते हैं! विकारों के सागर में वे स्वयं डूब कर अपने लड़कों के लिए बन्धन-सहित स्वच्छन्दता के आदर्श बन जाते हैं। घर में किसी लड़के के भी बच्चा पैदा होने पर खुशियाँ मनाई जातीं, बाजे बजते और दावतें उड़ती हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे वातावरण में रहने पर भी हम और अधिक स्वच्छन्द क्यों न हुए? मुझे इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यदि उन्हें देश का भला स्वीकार है और वे भारतवर्ष को सबल, सुंदर, और सुगठित स्त्री-पुरुषों का राष्ट्र देखना चाहते हैं, तो विवाहित स्त्री-पुरुष पूर्ण संयम से काम लेंगे और इस समय में सन्तानोत्पत्ति करना बन्द कर देंगे। नव-विवाहितों को भी मैं यही सम्मति देता हूँ। कोई काम करते हुए छोड़ने से कहीं सरल है, उसे आरंभ ही न करना, जैसे कि जिसने कभी शराब न पी हो, उसके लिये जन्म भर शराब न पीना, शराबी या अल्पसंयमी के शराब छोड़ने से

कहीं अधिक सहज है। गिर कर उठने से लाख दर्जे सहज सीधे खड़े रहना है। यह कहना बिलकुल गलत है कि ब्रह्मचर्य की शिक्षा केवल उन्हीं को दी जा सकती है जो भोग भोगते-भोगते थक गये हों। निर्बल को ब्रह्मचर्य की शिक्षा देने में कोई अर्थ ही नहीं है। और, मेरा तात्पर्य यह है कि हम वृद्ध हों या युवा, भोगों से ऊबे हुए हों या नहीं हमारा इस समय धर्म है कि हम अपनी दासता की बढ़ती करने को बच्चे पैदा न करें।

माता-पिताओं को क्या मैं यह भी ध्यान दिला दूं कि वे अपने पति या पत्नी के अधिकारों के तर्क के जाल में न पड़ें? भोग के लिये परस्पर स्वीकृति की आवश्यकता पड़ती है, संयम के लिये नहीं। यह तो स्पष्ट सत्य है।

जिस समय हमलोग एक शक्तिशाली सरकार के साथ जीवन-मरण की लड़ाई में लगे होंगे, हमें अपनी सारी शारीरिक, भौतिक, नैतिक और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी। जब तक हम प्राणों से भी प्रिय इस एक वस्तु की रक्षा नहीं करते, वह मिल नहीं सकती। इस व्यक्तिगत पवित्रता के बिना हम सदैव ही दास बने रहेंगे। हम अपने को यह सोच कर भुलावा न दें कि चूंकि हमारी समझ में यह सरकार बुरी है, इसलिये व्यक्तिगत पवित्रता में अँग्रेजों से घृणा करनी चाहिये। मूल नीतियों को आत्मिक उन्नति का साधन न मानते हुए भी उनका पालन शरीर से तो वे भली-भांति करते ही हैं। देश के राजनैतिक जीवन में जितने अँग्रेज लगे हुए हैं, उनमें हमसे कहीं अधिक ब्रह्मचारी और कुमारियां हैं। हमारे यहाँ कुमारियाँ तो प्राय: होती ही नहीं! जो थोड़ी साधुना कुमारियाँ होती हैं, उनका कोई असर राजनैतिक जीवन पर नहीं रह जाता, किन्तु यूरोप में हजारों ही ब्रह्मचर्य को साधारण बात समझते हैं।

अब मैं पाठकों के सामने थोड़े सीधे-सादे नियम रखता हूँ, जिनका आधार केवल मेरे ही नहीं, वरन् मेरे बहुत से साथियों के अनुभव हैं—

१. लड़के-लड़कियों को सीधे-सादे और प्राकृतिक रूप से यह पूरा विश्वास रखकर पालना चाहिये कि वे पवित्र हैं और पवित्र रह सकते हैं।

२. गर्म और उत्तेजक आहारों से, जैसे अचार, चटनी या मिर्चों इत्यादि से, चिकने और भारी पदार्थों से, जैसे मिठाइयाँ या तले हुए पदार्थों आदि से सब किसी को बचाए रहना चाहिए।

३. पति-पत्नी को अलग कमरों में रहना और एकान्त से बचना चाहिए।

४. शरीर और मन दोनों को बराबर अच्छे काम में लगाये रहना चाहिए।

५. सवेरे सोने और सवेरे उठने के नियम का कठोरता से पालन होना चाहिए।

६. सभी बुरे साहित्य से बचना चाहिए। बुरे विचारों की औषधि भले विचार हैं।

७. विकारों को उत्तेजन देने वाले थियेटर, बायस्कोप, नाच, तमाशों से बचना चाहिए।

८. स्वप्न-दोष से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। साधारण हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति के लिए हर बार ठण्डे जल से स्नान कर लेना ही इसकी सबसे अच्छी औषधि है। यह कहना ठीक नहीं कि स्वप्न-दोषों से बचने के लिये कभी-कभी सम्भोग कर लेना चाहिए।

९. सबसे बड़ी बात तो यह है कि पति-पत्नी तक के बीच भी ब्रह्मचर्य को कोई असम्भव या कठिन न समझ लें। इसके

उलटे ब्रह्मचर्य को जीवन का स्वाभाविक और साधारण अभ्यास समझना चाहिए।

१०. प्रति दिन पवित्रता के लिये सच्चे मन से की गई प्रार्थना से आदमी दिनों-दिन पवित्र होता जाता है!

पन्द्रहवाँ अध्याय

गुह्य प्रकरण

जिन्होंने आरोग्य के प्रकरण ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं, उनसे निवेदन है कि यह प्रकरण विशेष ध्यान से पढ़ें और इस पर अधिक विचार करें। दूसरे प्रकरण भी आवेंगे और वे अवश्य लाभदायक होंगे, किन्तु इस विषय पर इसके समान महत्त्व-पूर्ण कोई न होगा। मैंने पहले ही बतलाया है कि इन अध्यायों में एक भी बात ऐसी नहीं लिखी है, जिसका मैंने स्वयं अनुभव न किया हो, या जिसे मैं दृढ़ता-पूर्वक न मानता होऊँ।

आरोग्य की कई एक कुंजियाँ हैं, किन्तु उसकी मुख्य कुंजी तो ब्रह्मचर्य है। अच्छी हवा, अच्छा भोजन, अच्छा पानी इत्यादि से हम स्वास्थ्य पैदा कर सकते हैं सही, किन्तु हम जितना कमायें, उतना उड़ाते भी जायँ, तो कुछ न बचेगा। उसी प्रकार जितना स्वास्थ्य प्राप्त करें, उतना उड़ावें भी तो पूँजी क्या बचेगी? इसमें किसी के सन्देह करने का स्थान ही नहीं है कि आरोग्य-रूपी धन का संचय करने के लिये स्त्री और पुरुष दोनों को ही ब्रह्मचर्य की पूरी-पूरी आवश्यकता है। जिन्होंने अपने वीर्य का संचय किया है, वे ही वीर्यवान्—बलवान्—कहलाते हैं।

प्रश्न होगा कि ब्रह्मचर्य है क्या ? पुरुष को स्त्री का और स्त्री को पुरुष का भोग न करना ही ब्रह्मचर्य है। 'भोग न करने' का अर्थ एक-दूसरे को विषयेच्छा से स्पर्श न करना ही नहीं है, वरन् इस बात का विचार भी करना है। इसका स्वप्न भी न होना चाहिए। स्त्री को देखकर पुरुष विह्वल न हो जाय, पुरुष को देख कर स्त्री विह्वल न बने। प्रकृति ने जो गुह्य शक्ति हमें दी है, उसे दबा कर अपने शरीर में ही संग्रह करना और उसका उपयोग केवल अपने शरीर के ही नहीं, वरन् मन, बुद्धि, और स्मरणशक्ति के स्वास्थ्य को बढ़ाने में करना चाहिये।

किन्तु हमारे आस पास क्या दृश्य दिखलाई पड़ते हैं ? छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, सभी-के-सभी इस मोह में डूबे पड़े हैं। ऐसे समय हम पागल बन जाते हैं, बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, आँखें आवरण से ढँक जाती हैं, हम कामान्ध बन जाते हैं! काम-मुग्ध स्त्री-पुरुषों को, और लड़के-लड़कियों को मैंने बिल्कुल पागल बन जाते हुए देखा है। मेरा अपना अनुभव भी इससे भिन्न नहीं है। मैं जब-जब इस दशा में आया हूँ, तब-तब अपना भान भूल गया हूँ! यह वस्तु ही ऐसी है। इस प्रकार हम एक रत्ती-भर रति-सुख के लिये मन-भर शक्ति क्षणमात्र में खो बैठते हैं। जब मद उतरता है, हम रंक बन जाते हैं। दूसरे दिन सवेरे हमारा शरीर भारी रहता है, हमें सच्ची शान्ति नहीं मिलती, हमारी काया शिथिल हो जाती है, हमारा मन बे ठिकाने रहता है।

यह सब ठिकाने लाने, रखने के लिये हम भर-भर कढ़ाई दूध पीते हैं, भस्म फाँकते हैं, याकूती लेते हैं और वैद्यों से 'पुष्टई' माँगा करते हैं! क्या खाने से कामों में उत्तेजना बढ़ेगी—बस इसी की खोज करते हैं। यों दिन जाते हैं। और, ज्यों ज्यों वर्ष बीतते हैं,

त्यों-त्यों हम अङ्ग और बुद्धि से हीन होते जाते हैं। बुढ़ापे में हमारी मति मारी गई-सी दिखाई पड़ती है।

सच पूछो तो ऐसा होना ही न चाहिये। बुढ़ापे में बुद्धि मन्द होने की अपेक्षा तीव्र होनी चाहिए। हमारी दशा तो ऐसी होनी चाहिए कि इस देह के अनुभव हमें और दूसरों को भी लाभ-दायक हो सकें। जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसकी वैसी ही स्थिति रहती है। उसे मृत्यु का भय नहीं रहता, और न वह मरते समय ईश्वर को भूलता ही है। वह झूठी हाय-हाय नहीं करता। उसको मरण-काल के उत्पात नहीं सताते। वह ईश्वर को अपना हिसाब हँसते-हँसते देने जाता है। वही तो मर्द है। उसी का आरोग्य सच्चा कहा जायगा, जो इसके विपरीत मरे, वही स्त्री है।

साधारणतया हम विचार नहीं करते कि इस संसार में मौज-मजा, डाह, ईर्ष्या, बड़प्पन, आडम्बर, क्रोध, अधीरता, विष इत्यादि की जड़ हमारे ब्रह्मचर्य के भंग में ही है। यों हमारा मन अपने हाथों न रहे और प्रतिदिन हम एक बार या बार-बार छोटे बच्चे से भी अधिक मूर्ख बन जायँ, तो फिर जान-बूझकर या अनजान में, हम कितने पाप न कर बैठते होंगे! उस दशा में क्या हम घोर पाप करने से भी रुकेंगे!

पर ऐसे "ब्रह्मचारी" को देखा किसने है? ऐसे प्रश्न करनेवाले भी बहुत हैं कि यदि सभी कोई ऐसे ब्रह्मचारी बन जायँ तो संसार का सत्यानाश ही होगा। इसका विचार करने में धर्म-चर्चा का आ जाना संभव है, इसलिये उतना छोड़कर केवल सांसारिक दृष्टि से ही विचार करूँगा। मेरे मत में इन दोनों प्रश्नों की जड़ में हमारी कायरता और डरपोकपन घुसा हुआ है। हम ब्रह्मचर्य का पालन करना नहीं चाहते और इसीलिए उसमें से भागने के मार्ग ढूंढ़ते

हैं। इस संसार में ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले कितने ही भरे पड़े हैं, परन्तु यदि वे गली-गली मारे-मारे फिरें, तो फिर उनका मूल्य ही क्या रहे! हीरा निकालने के लिये भी पृथ्वी के पेट में हजारों मजदूरों को घुसना पड़ता है, और तो भी जब कंकर-पत्थर के पहाड़-से ढेर लग जाते हैं, तब कहीं मुट्ठी भर हीरा हाथ आता है फिर ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले हीरे को ढूंढ़ने में कितना परिश्रम करना होगा! इसका हिसाब सहज ही त्रैराशिक से सभी कोई जोड़ सकते हैं। ब्रह्मचर्य का पालन करने से सृष्टि बन्द हो जाय; तो इससे हमें क्या? हम कुछ ईश्वर नहीं हैं। जिन्होंने सृष्टि बनाई है, वे स्वयं सँभाल लेंगे। दूसरे पालन करेंगे कि नहीं यह भी हमारे विचारने की बात नहीं है। हम व्यापार, वकालत इत्यादि धन्धे आरम्भ करते समय तो यह नहीं सोचते कि यदि सब कोई ये धन्धे आरम्भ कर दें तो? ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले स्त्री-पुरुषों को इसका उत्तर सरलता से मिल जायगा। संसारी आदमी ये विचार व्यवहार में कैसे ला सकते हैं? विवाहित लोग क्या करें? लड़के-बाले वाले क्या करें? जो काम को वश में न रख सकें वे बेचारे क्या करें?

हमने यह देख लिया कि हम कहाँ तक ऊँचे जा सकते हैं। यदि हम अपने सामने यही आदर्श रक्खें, तो उसकी ज्यों की त्यों या उसी-जैसी कुछ नकल उतार सकेंगे। लड़के को जब अक्षर लिखना बताया जाता है, तब उसके सामने सुन्दर-से-सुन्दर अक्षर रक्खे जाते हैं, जिसमें वह अपनी शक्ति के अनुसार पूरी या अधूरी नकल करे। वैसे ही हम भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का आदर्श सामने रखकर, उसकी नकल करने में लग सकते हैं। विवाह कर लिया है तो उससे क्या हुआ? प्राकृतिक नियम तो यह है कि जब सन्तति की इच्छा हो, तभी ब्रह्मचर्य तोड़ा जाय। यों विचार-पूर्वक जो

दो-तीन, या चार-पाँच वर्षों पर ब्रह्मचर्य तोड़ेगा, वह बिलकुल पागल नहीं बनेगा और उसके पास वीर्यरूपी शक्ति की पूँजी भी ठीक जमा रहेगी। ऐसे स्त्री-पुरुष कदाचित् ही दिखाई पड़ते हैं, जो केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ही काम-भोग करते हों। पर सहस्रों मनुष्य काम-भोग ढूँढ़ते हैं, चाहते हैं, और करते हैं। फल यह होता है कि उन्हें अनचाही सन्तान होती है। ऐसा विषय-भोग करते हुए हम इतने अन्धे बन जाते हैं कि सामने कुछ देखते ही नहीं। इसमें स्त्री से अधिक अपराधी पुरुष ही है। अपनी मूर्खता में उसे स्त्री की निर्बलता का, सन्तान के पालन-पोषण की उसकी शक्ति का ध्यान भी नहीं रहता। पश्चिम के लोगों ने तो इस विषय में मर्यादा का उल्लंघन ही कर दिया है। वे तो भोग भोगने, और सन्तानोत्पत्ति के बोझ को दूर रखने के अनेक उपचार करते हैं। इन उपचारों पर किताबें लिखी गई हैं और सन्तानोत्पत्ति रोकने के उपचारों का व्यापार ही चल निकला है। अभी तो हम इस पाप से मुक्त हैं। किन्तु हम अपनी स्त्रियों पर बोझ लादते समय, घड़ी-भर भी विचार नहीं करते, इसकी चिन्ता भी नहीं करते कि हमारी सन्तान निर्बल, वीर्यहीन, बावली व बुद्धिहीन बनेगी। उलटे, जब सन्तान होती है, तब ईश्वर का गुण गाते हैं। हमारी इस दीनदशा को छिपाने का यह एक ढंग है। *हम इसे ईश्वरीय कोप क्यों न मानें जब हमें निर्बल, पंगु, विषयी और डरपोक सन्तान होती हैं? बारह साल के लड़के के यहां भी लड़का हो, तो इसमें सुख की क्या बात है? आनन्दोत्सव क्यों मनाना होगा? बारह साल की* लड़की माता बने, तो इसे *हम महाकोप क्यों न मानें?* हम जानते हैं कि नई बेल में फल लगें, तो वह निर्बल होगी। हम इसका यत्न करते हैं कि जिसमें उसे फल न लगें। पर बालिका स्त्री को बालक वर से सन्तान हों, तो हम उत्सव मनाते हैं, मानों सामने खड़ी

दीवाल को ही भूल जाते हैं। यदि भारतवर्ष में या संसार में नपुं-सक लड़के, चींटियों-जैसे पैदा होने लगें, तो इससे क्या संसार का उद्धार होगा? एक प्रकार से तो हमसे पशु ही अच्छे हैं। जब उनसे बच्चे पैदा कराने होते हैं, तभी नर-मादा का मिलाप कराते हैं। संयोग के बाद, गर्भ-काल में, और वैसे ही, जन्म के बाद, जब तक बच्चा दूध छोड़कर बड़ा नहीं होता, उस समय तक का समय बिलकुल पवित्र गिनना चाहिये। इस काल में स्त्री और पुरुष दोनों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इसके बदले हम घड़ी भर भी विचार किये बिना, अपना काम करते ही चले जाते हैं! हमारा मन इतना रोगी है! इसीका नाम है—असाध्य रोग। यह रोग हमें मौत से मिलाप कराता है। और, जब तक मौत नहीं आती, हम बावले-जैसे मारे-मारे फिरते हैं। विवाहित स्त्री-पुरुषों का मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने विवाह का झूठा अर्थ न करते हुए, उसका शुद्ध अर्थ लगावें और जब सचमुच सन्तान न हो, तो केवल उत्तराधिकारी के लिये ही ब्रह्मचर्य का भंग करें।

हमारी दयाजनक दशा में ऐसा करना बहुत कठिन है। हमारा भोजन, रहन-सहन, बातें और आस-पास के दृश्य, सभी हमारी विषय-वासना के जगाने वाले हैं। हमारे ऊपर अफीम के समान विषय की मादकता चढ़ी रहती है। ऐसी स्थिति में विचार करके पीछे हटते हमसे कैसे बने? किन्तु ऐसी शङ्का उठाने वालों के लिये यह लेख नहीं लिखा गया है। यह तो उन्हीं के लिये है, जो विचार करके काम करने को तैयार हों। जो अपनी स्थिति पर सन्तोष करके बैठे हों, उन्हें तो इसे पढ़ना भी कठिन प्रतीत होगा पर जो अपनी कङ्गाल दशा कुछ देख सके हैं और उससे ऊब उठे हैं, उन्हीं की सहायता करना, इस लेख का उद्देश्य है।

ऊपर के लेख द्वारा हम देख सके हैं कि ऐसे कठिन काल में

अविवाहितों को विवाह करना ही नहीं चाहिये या करे बिना चले ही नहीं, तो जहाँ तक हो सके देर करके करना चाहिये। *नवयुवकों को पचीस वर्ष की आयु से पहले विवाह न करने का व्रत लेना चाहिये।* आरोग्य-प्राप्ति के लाभ को छोड़कर इस व्रत से होनेवाले और दूसरे लाभों को हम विचार नहीं करते, किन्तु इनके लाभ सभी कोई उठा सकते हैं।

जो माता-पिता इस लेख को पढ़ें, उनसे मुझे यह कहना है कि वे अपने बच्चों की बचपन में ही सगाई करके उन्हें बेच डालने से घातक बनते हैं। अपने बच्चों का लाभ देखने के बदले वे अपना ही अन्ध-स्वार्थ देखते हैं। उन्हें तो स्वयं बड़ा बनना है, अपनी जाति-बिरादरी में नाम कमाना है, लड़के का ब्याह करके तमाशा देखना है। लड़के का हित देखें, तो उसका पढ़ना-लिखना देखें, उसका यत्न करें, उसका शरीर बनावें। घर गृहस्थी की खटपट में डाल देने से बढ़कर उसका दूसरा कौन-सा बड़ा अहित हो सकता है?

अन्त में विवाहित स्त्री और पुरुष में से एक की मृत्यु हो जाने पर दूसरे को वैधव्य पालने से स्वास्थ्य का लाभ ही है। कई एक डाक्टरों की सम्मति है कि युवा स्त्री या पुरुष को वीर्यपात करने का अवसर मिलना ही चाहिये। दूसरे कितने ही डाक्टर कहते हैं कि किसी भी दशा में वीर्यपात कराने की आवश्यकता नहीं है। जब डाक्टर यों लड़ रहे हों, तब अपने विचार को डाक्टरी मत का सहारा मिलने से ऐसा समझना ही नहीं चाहिए कि विषय में लीन रहना ही उचित है। मेरे अपने अनुभवों और दूसरों के जो अनुभव मैं जानता हूँ, उनपर से मैं बेधड़क कहता हूँ कि आरोग्य बचाये रखने के लिये विषय-भोग आवश्यक नहीं है, यही नहीं वरन विषय-सेवन करने से—वीर्यपात होने से—आरोग्य को बहुत

हानि पहुँचती है। बहुत वर्षों की प्राप्त दृढ़ता-तन और मन दोनों की-एक बार के वीर्यपात से इतनी अधिक जाती रहती है कि उसे लौटाने में बहुत समय चाहिये, और उतना समय लगाने पर भी पहले की स्थिति आ ही नहीं सकती। टूटे शीशे को जोड़ कर उससे काम भले ही लें, किन्तु है तो वह टूटा हुआ ही। वीर्य का यत्न करने के लिये स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी, और पहले बतलाये अनुसार स्वच्छ विचार की पूरी आवश्यकता है। इस प्रकार नीति का आरोग्य के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। सम्पूर्ण नीतिमान् ही सम्पूर्ण आरोग्यता पा सकता है। जो सचेत होने के बाद से ही सवेरा समझ कर ऊपर के लेखों पर भली-भांति विचार कर व्यवहार में लायेंगे, वे प्रत्यक्ष अनुभव पा सकेंगे। जिन्होंने थोड़े दिनों भी ब्रह्मचर्य का पालन किया होगा, वे अपने शरीर और मन में बढ़ा हुआ बल देख सकेंगे। और एक बार जिसके हाथ पारसमणि लग गई, उसको वह अपने जीवन के साथ यत्न करके बचा रक्खेगा। थोड़ा भी चूका कि वह देख लेगा कि कितनी भारी भूल हुई है। मैंने तो ब्रह्मचर्य के अगणित लाभ विचारने के बाद, जानने के बाद, भूलें की हैं और उनके कड़वे फल भी पाये हैं। भूल के पहले की मेरे मन की भव्य दशा और उसके बाद की दीन दशा की तसवीरें आँख के सामने आया ही करती हैं। किन्तु अपनी भूलों से ही मैंने इस पारसमणि का मूल्य समझा है। अब अखण्ड पालन करूँगा या नहीं, नहीं जानता। ईश्वर की सहायता से पालन करने की आशा रखता हूँ। उससे मेरे मन और तन को जो लाभ हुए हैं, उन्हें मैं देख सकता हूँ। मैं स्वयं बालकपन में ही ब्याहा गया, बचपन में ही अन्धा बना, बालपन में ही बाप बन कर बहुत वर्षों बाद जागा। जग कर देखता हूँ, तो अपने को महारात्रि में पड़ा हुआ पाता हूँ। मेरे अनुभवों से और मेरी भूल से भी

यदि कोई चेत जायगा, बच जायगा, तो यह प्रकरण लिख कर मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। यह भी त्रैराशिक-जैसा ही है। बहुत से व्यक्ति कहते हैं, और मैं भी मानता हूँ कि मुझमें उत्साह बहुत है। मेरा मन तो निर्बल गिना नहीं जाता। कितने तो मुझे हठी कहते हैं। मेरे मन और शरीर में रोग है, किन्तु मेरे संसर्ग में आये हुए लोगों में मैं अच्छा स्वस्थ गिना जाता हूँ। यदि लगभग बीस वर्ष तक विषय में रहने के पश्चात् मैं अपनी यह दशा बना सका हूँ, तो वे बीस वर्ष भी यदि बचा सका होता, तो आज मैं कहाँ होता? मैं स्वयं तो समझता हूँ कि मेरे उत्साह का पार ही न होता और जनता की सेवा में या अपने स्वार्थ में ही मैं इतना उत्साह दिखलाता कि मेरी बराबरी करने वाले की पूरी कसौटी हो जाती। इतना सार मेरे त्रुटि-पूर्ण उदाहरण में से लिया जा सकता है। जिन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य-पालन किया है, उनका शारीरिक, मानसिक और नैतिक बल जिन्होंने देखा है, वही समझ सकते हैं उसका वर्णन नहीं हो सकता।

इस प्रकरण को पढ़ने वाले समझ गये होंगे कि जहाँ विवाहितों को ब्रह्मचर्य की सलाह दी गई है, विधुर पुरुष को वैधव्य सिखलाया जाता है, वहाँ पर विवाहित या अविवाहित स्त्री या पुरुष को दूसरी जगह विषय करने का अवसर हो ही नहीं सकता। पर-स्त्री या वेश्या पर कुदृष्टि डालने के घोर परिणामों पर आरोग्य के विषय में विचार नहीं किया जा सकता। यह तो धर्म और गहरे नीति-शास्त्र का विषय है। यहाँ तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पर-स्त्री और वेश्या-गमन से मनुष्य सूजाक इत्यादि नाम न लेने योग्य रोगों से सड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। प्रकृति तो ऐसी दया करती है कि इन लोगों के आगे पापों का फल तुरन्त ही आ जाता है। तो भी वे आँख मूँदे ही रहते हैं और अपने रोगों

के लिये डाक्टरों के यहाँ भटकते फिरते हैं? जहाँ पर-स्त्री-गमन न हो, वहाँ पर सैकड़े पीछे पचास डाक्टर बेकार हो जायँगे। ये बीमारियाँ मनुष्य-जाति के गले यों आ पड़ी हैं कि विचारशील डाक्टर कहते हैं कि उनके लाखों शोध चलाते रहने पर भी यदि पर-स्त्री गमन का रोग जारी ही रहा, तो फिर मनुष्य जाति का अन्त निकट ही है। इसके रोगों की औषधियाँ भी ऐसी विषैली होती हैं कि यदि उनसे एक रोग का नाश हुआ-सा लगता है, तो दूसरे रोग घर कर लेते हैं, और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल निकलते हैं।

अब विवाहितों को ब्रह्मचर्य-पालन का उपाय बता कर, इस लम्बे प्रकरण को समाप्त करना चाहिए। ब्रह्मचर्य के लिये केवल स्वच्छ हवा, पानी और खुराक का ही विचार रखने से नहीं चलेगा। उन्हें तो अपनी स्त्री के साथ एकान्त छोड़ना चाहिये। विचार करने से मालूम होता है कि विषय-सम्भोग के अतिरिक्त एकान्त की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिए। रात में स्त्री-पुरुष को अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए। सारे दिन दोनों को अच्छे धन्धों और विचारों में लगा रहना चाहिये। जिसमें अपने सुविचार को उत्तेजन मिले, वैसी पुस्तकें और वैसे महापुरुषों के चरित्र पढ़ने चाहिएँ। बारम्बार यही विचार करना चाहिए कि भोग में तो दुःख-ही-दुःख है। जब-जब विषय की इच्छा हो आवे, ठण्डे पानी से नहा लेना चाहिए। शरीर में जो महाअग्नि है, वह शान्त होकर पुरुष और स्त्री दोनों के लिये उपकारी होगी और दूसरा ही लाभदायक रूप धर कर उनका सच्चा सुख बढ़ावेगी। ऐसा करना कठिन है, किन्तु कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिये ही तो हम पैदा हुए हैं। आरोग्य प्राप्त करना हो, तो ये कठिनाइयाँ जीतनी ही पड़ेंगी।

सोलहवां अध्याय

ब्रह्मचर्य

[भादरण में एक मानपत्र का उत्तर देते हुए लोगों के अनुरोध से गांधी जी ने ब्रह्मचर्य पर एक लम्बा प्रवचन किया था। उसका सारांश यहां दिया जाता है। सं०]

'आप चाहते हैं कि ब्रह्मचर्य के विषय पर मैं कुछ कहूँ। कई विषय ऐसे हैं, जिन पर मैं 'नवजीवन' में प्रसंगोपात्त ही लिखता हूँ और उन पर व्याख्यान तो कदाचित् ही देता हूँ, क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि कह कर समझाया नहीं जा सकता। आप तो साधारण ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ सुनना चाहते हैं। जिस ब्रह्मचर्य की विस्तृत व्याख्या 'समस्त इन्द्रियों का संयम' है, उसके विषय में नहीं। इस साधारण ब्रह्मचर्य को भी शास्त्रों में बड़ा कठिन बतलाया गया है। यह बात ९९ प्रतिशत सच है, इसमें १ प्रतिशत की कमी है। इसका पालन इसलिये कठिन जान पड़ता है कि हम दूसरी इन्द्रियों को संयम में नहीं रखते, मुख्य कर जीभ को। जो अपनी जिह्वा को वश में रख सकता है, उसके लिये ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है। प्राणि-शास्त्रज्ञों का यह कहना सच है कि पशु जिस अंश तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उस दर्जे तक मनुष्य नहीं करता। इसका कारण देखने पर ज्ञात होगा कि पशु अपनी जीभ पर पूरा-पूरा निग्रह रखते हैं-चेष्टा करके नहीं वरन् स्वभाव से ही। वे केवल घास पर ही अपना बसर करते हैं और सो भी केवल पेट भरने योग्य ही खाते हैं। वे जीने के लिये खाते हैं, खाने के लिये नहीं जीते। पर हम तो इसके बिल्कुल

विपरीत करते हैं। माँ बच्चे को तरह-तरह के सुस्वादु भोजन कराती है। वह मानती है कि बालक पर प्रेम दिखाने का यही सर्वोत्तम मार्ग है। ऐसा करते हुए हम उन चीजों का स्वाद बढ़ाते नहीं, वरन् घटाते हैं। स्वाद तो भूख में रहता है। भूख के समय सूखी रोटी भी मीठी लगती है और बिना भूख के आदमी को लड्डू भी फीके और बेस्वाद मालूम होंगे। पर हम तो न जाने क्या-क्या खा-खाकर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नहीं हो पाता।

जो आँखें हमें ईश्वर ने देखने के लिये दी हैं, उन्हें हम मलीन करते हैं, और देखने योग्य वस्तुओं को देखना नहीं सीखते। "माता गायत्री क्यों न पढ़े और बालकों को वह गायत्री क्यों न सिखाए ?" इसकी छानबीन करने के बदले यदि वह उसके तत्त्व—सूर्योपासना—को समझकर उनसे सूर्योपासना करावे तो कितना अच्छा हो ? सूर्य की उपासना तो सनातनी और आर्यसमाजी दोनों ही कर सकते हैं। यह तो मैंने स्थूल अर्थ आपके सामने उपस्थित किया। इस उपासना के अर्थ क्या हैं ? यही कि अपना सिर ऊँचा रखकर, सूर्यनारायण के दर्शन करके, आँख की शुद्धि की जाय। गायत्री के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होंने कहा है कि सूर्योदय में जो काव्य है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, जो नाटक है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकता। ईश्वर के जैसा सुन्दर सूत्रधार अन्य नहीं मिल सकता, और आकाश से बढ़कर भव्य रंग-भूमि भी कहाँ मिलेगी, पर आज कौन-सी माता बालक की आँख धोकर उसे आकाश-दर्शन कराती है ? वरन् माता के भावों में तो अनेक प्रपञ्च रहते हैं ! बड़े-बड़े घरों में जो शिक्षा मिलती है, उसके फल-स्वरूप तो लड़का कदाचित् बड़ा अफ़सर होगा, पर इस बात का कौन विचार करता है कि घर में जाने-

बेजाने जो शिक्षा बच्चों को मिलती है, उससे कितनी बातें वह ग्रहण कर लेता है। मां-बाप हमारे शरीर को ढकते हैं सजाते हैं, पर इससे कहीं शोभा बढ़ सकती है? कपड़े देह को ढकने के लिये हैं, सर्दी-गर्मी से बचाने के लिये हैं, सजाने के लिये नहीं। यदि बालक का शरीर वज्र-सा दृढ़ बनाना है, तो जाड़े से ठिठुरते हुए लड़के को हम अँगीठी के पास बैठाने के बदले मैदान में खेलने-कूदने भेज देंगे, या खेत में काम पर छोड़ देंगे? उसका शरीर दृढ़ बनाने का बस यही एक उपाय है। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उसका शरीर अवश्य ही वज्र-सा होना चाहिये। हम तो बच्चे के शरीर का सत्यानाश कर डालते हैं। उसे घर में रखने से जो झूठी गर्मी आती है, उसे हम छाजन की उपमा दे सकते हैं। दुलार-दुलार कर तो हम उसका शरीर केवल बिगाड़ ही पाते हैं।

यह तो हुई कपड़े की बात। फिर घर में भांति-भांति की बातें करके हम उसके मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उसके ब्याह की बातें किया करते हैं; और इसी भांति की वस्तुएँ तथा दृश्य भी उसे दिखाये जाते हैं! मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम केवल जंगली ही क्यों बन गये हैं? मर्यादा तोड़ने के अनेक साधनों के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो जाती है! ईश्वर ने मनुष्य की रचना ऐसी की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच जाता है। यदि हम ब्रह्मचर्य के मार्ग से ये सब विघ्न दूर कर दें, तो उसका पालन बहुत सरल हो जाय।

ऐसी दशा होते हुए भी हम संसार के साथ शारीरिक सामना करना चाहते हैं। उसके दो मार्ग हैं—एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर-बल प्राप्त करने के लिये हर प्रकार के उपायों से काम लेना—हर प्रकार की वस्तुएँ खाना, गोमांस खाना आदि। मेरे लड़कपन में एक मित्र मुझसे कहा करता था

कि मांसाहार हमें अवश्य करना चाहिए नहीं तो हम अँग्रेजों की तरह हट्टे-कट्टे न हो सकेंगे। जापान को भी जब दूसरे देश के साथ मुकाबला करने का अवसर आया, तब वहाँ गो-मांस-भक्षण को स्थान मिला। सो, यदि आसुरी मत से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो, तो इन वस्तुओं का सेवन करना होगा।

परन्तु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो, तो ब्रह्मचर्य ही उसका एक उपाय है। जब मुझे कोई 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहता है तब मैं अपने आप पर तरस खाता हूँ। जिसके बाल बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर-दर्द होता है, न कभी खाँसी होती है, न कभी अपेंडिसाइटिज होता है। डाक्टर लोग कहते हैं नारंगी का बीज आँत में रह जाने से भी अपेंडिसाइटिज होता है। परन्तु जो शरीर स्वच्छ और निरोगी हो, उसमें ये बीज टिकेंगे कैसे? जब आंतें शिथिल पड़ जाती हैं तब वे ऐसी वस्तुओं को अपने आप बाहर नहीं निकाल सकतीं। मेरी भी आंतें शिथिल हो गई होंगी। इसीसे मैं ऐसी कोई वस्तु पचा न सका हूँगा। बच्चा ऐसी अनेक वस्तुएँ खा जाता है। माता इसका कहाँ ध्यान रखती है? पर उसकी आँतों में इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसलिये मैं चाहता हूं कि मुझपर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोप करके कोई मिथ्याचारी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचारी का तेज तो मुझसे अनेक गुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हाँ, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। मैंने तो आपके सामने अपने अनुभव की कुछ बूंदें उपस्थित की हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताती हैं। ब्रह्मचर्य-पालन का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्री को स्पर्श न करूँ। पर ब्रह्मचारी बनने का अर्थ यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से भी मुझमें किसी प्रकार का

विकार उत्पन्न न हो, जिस प्रकार एक कागज को स्पर्श करने से नहीं होता। मेरी बहन बीमार हो और उसकी सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य के कारण मुझे हिचकना पड़े, तो वह ब्रह्मचर्य कौड़ी काम का नहीं। जिस निर्विकार दशा का अनुभव जब हम मृत शरीर को स्पर्श करके कर सकते हैं, उसीका अनुभव जब हम किसी सुन्दरी-से-सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें, तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हों कि बालक वैसा ब्रह्मचर्य प्राप्त करें, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते, मेरे-जैसा, अधूरा भी क्यों न हो; पर, ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक सन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम सन्यासाश्रम से भी बढ़कर है। पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगड़ा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगड़ा है और सन्यास का तो नाम भी नहीं रह गया है। हमारी ऐसी असह्य अवस्था हो गई है!

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है, उसका अनुकरण करके तो आप पाँच सौ वर्षों के बाद भी पठानों का सामना न कर सकेंगे। दैवी मार्ग का अनुकरण यदि आज हो, तो आज ही पठानों का सामना हो सकता है। क्योंकि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन एक क्षण में हो सकता है। पर शारीरिक परिवर्तन करते हुए युग बीत जाते हैं। इस दैवी मार्ग का अनुकरण तभी हमसे होगा, जब हमारे पल्ले पूर्वजन्म का पुण्य होगा, और माता-पिता हमारे लिये उचित सामग्री उत्पन्न करेंगे।

सत्रहवां अध्याय

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ लिखना सरल नहीं है। परन्तु मेरा अपना अनुभव इतना विशाल है कि उसकी कुछ बूँदें पाठकों को अर्पण करने की इच्छा बनी ही रहती है। इसके अतिरिक्त मेरे पास आये हुए पत्रों ने इस इच्छा को और भी अधिक बढ़ा दिया है।

एक सज्जन पूछते हैं-ब्रह्मचर्य के अर्थ क्या हैं? क्या उसका सोलहो आने पालन करना शक्य है? यदि शक्य हो तो, क्या आप उसका वैसा पालन करते हैं?

ब्रह्मचर्य का पूरा वास्तविक अर्थ है, ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सब में व्याप्त है। अतएव उसकी खोज अन्तर्ध्यान तथा उससे उत्पन्न होने वाले अन्तर्ज्ञान से होती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के पूर्ण संयम के बिना नहीं हो सकता। इस कारण सभी इन्द्रियों का तन, मन; और वचन से सब समय और सब क्षेत्रों में संयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पूर्ण-रूप से पालन करने वाली स्त्री या पुरुष केवल निर्विकारी ही हो सकते हैं। ऐसे निर्विकारी स्त्री-पुरुष ईश्वर के निकट रहते हैं, वे ईश्वरवत् हैं।

इसमें मुझे तिलमात्र भी शंका नहीं है कि ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन तन, मन और वचन से करना सम्भव है। मुझे कहते हुए दुःख होता है कि इस ब्रह्मचर्य की पूर्ण अवस्था को मैं अभी नहीं

पहुँचा हूँ। वहाँ तक पहुँचने का मेरा प्रयत्न निरन्तर चलता रहता है, इसी देह से उस स्थिति तक पहुँचने की आशा मैंने छोड़ी नहीं है। तन पर तो मैंने अपना अधिकार कर लिया है। जाग्रत अवस्था में मैं सावधान रह सकता हूँ। मैंने वचन के संयम का पालन करना ठीक-ठीक सीखा है। विचार पर अभी मुझे बहुत कुछ वश करना शेष है। जिस समय जिस बात का विचार करना हो, उस समय केवल एक उसी के विचार आने के बदले दूसरे विचार भी आया करते हैं। इससे विचारों में परस्पर द्वंद्वयुद्ध हुआ करता है।

फिर भी जागृत अवस्था में मैं विचारों का परस्पर टक्कर लेने से रोक सकता हूँ। मेरी यह स्थिति कही जा सकती है कि दूषित विचार तो आ ही नहीं सकते। परन्तु निद्रावस्था में विचारों पर मेरा वश कम रहता है। नींद में अनेक प्रकार के विचार आते हैं, अकल्पित स्वप्न भी आते ही रहते हैं और कभी-कभी इसी देह की हुई बातों की वासना भी जागृत हो उठती है। वे विचार जब दूषित होते हैं, तब स्वप्न-दोष भी होता है। यह स्थिति विकारी जीवन की ही हो सकती है।

मेरे विचार के विकार क्षीण होते जा रहे हैं, किन्तु उनका नाश नहीं हो पाया है। यदि मैं विचारों पर भी अपना साम्राज्य स्थापित कर सका होता, तो पिछले दस वर्षों में मुझे जो तीन कठिन बीमारियाँ पसली का दर्द, पेचिस और अपेंडिसाइटिज हुईं ये कभी न होतीं। मैं मानता हूँ कि निरोग आत्मा का शरीर भी नीरोग ही होता है। अर्थात् ज्यों-ज्यों आत्मा निरोग-निर्विकार होती जाती है त्यों-त्यों शरीर भी रोग-रहित होता जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि निरोगी शरीर के अर्थ बलवान शरीर के हों। बलवान आत्मा क्षीण शरीर में भी वास करती है ज्यों-ज्यों आत्म-

बल बढ़ता है, त्यों-त्यों शरीर की क्षीणता बढ़ती जाती है। पूर्ण निरोग शरीर भी बहुत क्षीण हो सकता है।

बलवान् शरीर में अधिकतर रोग तो रहते ही हैं। यदि रोग न भी हों, तो भी वह संक्रामक रोगों का लक्ष्य तुरन्त हो जाता है, पर पूर्ण निरोग शरीर पर संक्रामक रोगों की छूत का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। शुद्ध रक्त में ऐसे कीटों को दूर करने का गुण होता है।

ऐसी अद्भुत दशा दुर्लभ तो है ही। नहीं तो अब तक मैं वहाँ तक पहुँच गया होता। क्योंकि मेरी आत्मा साक्षी देती है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिये जिन उपायों का अवलम्बन करने की आवश्यकता है, उनसे मैं मुँह मोड़ने वाला नहीं हूँ। ऐसी कोई भी बाह्य वस्तु नहीं है, जो मुझे उनसे दूर रखने में समर्थ हो। किन्तु पिछले संस्कारों को धो बहाना सबके लिये सरल नहीं होता। इसलिये यद्यपि देर हो रही है, तो भी मैं थोड़ा भी साहस नहीं खो कर बैठा हूं, क्योंकि मैं निर्विकार अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ। उसकी धुँधली झलक भी कभी-कभी देख सकता हूँ, और जो प्रगति मैंने अब तक रखी है वह मुझे निराश करने के बदले मुझमें आशा ही भरती है। फिर भी यदि मेरी आशा पूर्ण न हो और मेरा शरीर-पात हो जाय, तो भी मैं अपने को निष्फल हुआ न मानूँगा। जितना विश्वास मुझे इस शरीर के अस्तित्व पर है, उतना ही पुनर्जन्म पर भी है इसलिये मैं जानता हूँ कि थोड़ा-सा प्रयत्न भी कभी व्यर्थ नहीं जाता।

आत्मानुभव का इतना वर्णन करने का कारण यही है कि जिन लोगों ने मुझे पत्र लिखे हैं, उनको तथा उनके समान दूसरों दूसरों को इससे धीरज रहे और उनका आत्म-विश्वास बढ़े। सबकी आत्मा एक है, सबकी आत्मा की शक्ति एक सी है। कई

एक लोगों की शक्ति प्रकट हो चुकी है, दूसरों की प्रकट होने को शेष है। प्रयत्न करने से उन्हें भी अनुभव अवश्य ही मिलेगा।

यहाँ तक मैंने व्यापक अर्थ में ब्रह्मचर्य का विवेचन किया। ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो केवल विषयेन्द्रिय का ही मन, वचन, और काया के द्वारा संयम माना जाता है। यह अर्थ वास्तविक है। क्योंकि इसका पालन करना अत्यन्त कठिन माना गया है। इससे विषयेन्द्रिय का संयम इतना कठिन बन गया है—लगभग अशक्य हो गया है। फिर जो शरीर रोग से अशक्त हो गया है, उसमें विषय-वासना सदैव अधिक रहती है। यह वैद्यों का अनुभव है। इसलिये भी हमारे रोग-ग्रस्त समाज को ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन जान पड़ता है।

ऊपर मैं क्षीण किन्तु निरोगी शरीर के विषय में लिख आया हूँ, कोई उसका अर्थ यह न लगावे कि शरीर-बल बढ़ाना ही न चाहिए। मैंने तो सूक्ष्म-तम ब्रह्मचर्य की बात अपनी अति स्वाभाविक भाषा में लिखी है।

उससे कदाचित् भ्रामकता फैले। जो सब इन्द्रियों के पूर्ण संयम का पालन करना चाहता है, उसे अन्त में शरीर-क्षीणता का अभिनन्दन करना ही पड़ेगा। जब शरीर का मोह और महत्त्व क्षीण हो जाय, तब शरीर-बल की इच्छा रही नहीं सकती। परन्तु विषयेन्द्रिय को जीतनेवाले ब्रह्मचारी का शरीर अति तेजस्वी और बलवान् होना चाहिए। यह ब्रह्मचर्य भी अलौकिक है! जिसकी विषयेन्द्रिय को स्वप्नावस्था में भी विकार न हो वह जगद्वन्दनीय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके लिये दूसरे संयम सरल हैं।

इसी ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में एक और सज्जन लिखते हैं—"मेरी स्थिति दयाजनक है। दफ्तर में, रास्ते में, रात को, पढ़ते समय, काम करते हुए, ईश्वर का नाम लेते हुए भी वही विचार

आते रहते हैं। मन के विचार कैसे वश में रक्खे जायँ ? स्त्री-मात्र के प्रति मातृ-भाव कैसे उत्पन्न हो ? आँख से शुद्ध वात्सल्य की ही किरणें किस प्रकार निकलें ? दुष्ट विचार कैसे निर्मूल हों ? 'ब्रह्मचर्य'-विषय का आपका लेख मैंने अपने पास रख छोड़ा है, परन्तु इस स्थान पर उससे कुछ भी लाभ नहीं होता है।"

यह स्थिति हृदय-द्रावक है ! बहुतों की यह स्थिति होती है। परन्तु जब तक मन उन विचारों के साथ लड़ता रहता है, उस समय तक भय करने का कोई कारण नहीं है। आँख यदि दोष करती हों, तो उन्हें बंद कर लेना चाहिये, कान यदि दोष करें, तो उनमें रुई भर लेनी चाहिए। आँख को सदैव नीची रख कर चलने की रीति हितकर है। इससे उसे दूसरी बातें देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। जहाँ दूषित बातें होती हों अथवा गन्दे गीत गाये जा रहे हों, वहाँ से उठ कर भाग जाना चाहिए। स्वादेन्द्रिय पर खूब वश पैदा करना चाहिए।

मेरा अनुभव तो ऐसा है कि जिसने स्वाद नहीं जीता, वह विषय को नहीं जीत सकता। स्वाद को जीतना बहुत कठिन है। परन्तु इस विजय की प्राप्ति पर ही दूसरी विजय की सम्भावना है। स्वाद को जीतने के लिये एक नियम तो यह है कि मसालों का सर्वथा अथवा जितना हो सके, उतना त्याग करना चाहिए। और दूसरा इससे अधिक बढ़ कर यत्न यह है कि इस भावना की वृद्धि सदैव की जाय कि हम स्वाद के लिये नहीं वरन् केवल शरीर-रक्षा मात्र के लिये भोजन करते हैं। हम स्वाद के लिये हवा नहीं लेते, वरन् श्वास लेने के लिये लेते हैं। पानी हम केवल प्यास बुझाने के लिये पीते हैं। इसी प्रकार भोजन भी केवल भूख बुझाने के लिये ही करना चाहिए। हमारे माता-पिता बालकपन से ही हमें इसका उल्टा अभ्यास कराते हैं। हमारे पोषण के लिये नहीं वरन् अपना

दुलार दिखाने के लिये हमें भांति-भांति के स्वाद चखा कर हमें बिगाड़ते हैं। हमें ऐसे वायुमंडल का विरोध करना होगा।

परन्तु विषयों को जीतने का सुवर्ण-नियम तो राम-नाम या ऐसा कोई दूसरा मन्त्र है। द्वादश मन्त्र भी यही काम देता है। जिसकी जैसी भावना हो, वह वैसे ही मंत्र का जप करे। मुझे लड़कपन से राम-नाम सिखाया गया था। मुझको उसका सहारा बराबर मिलता रहता है, इस कारण मैंने उसे सुझाया है। जो मन्त्र हम जपें, उसमें हमें तल्लीन हो जाना चाहिए। भले ही मंत्र जपते समय दूसरे विचार आया करें, किन्तु तो भी जो श्रद्धा रख कर मन्त्र का जप करता रहेगा, उसे अन्त में सफलता अवश्य मिलेगी। मुझे इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। यह मन्त्र उसके जीवन का आधार बनेगा और उसे समस्त संकटों से बचावेगा। ऐसे पवित्र मन्त्रों का उपयोग किसी को आर्थिक लाभ के लिये कदापि न करना चाहिए। इन मन्त्रों का चमत्कार हमारी नीति को सुरक्षित रखने में है। यह अनुभव प्रत्येक साधक को थोड़े ही काल में मिल जायगा। हाँ, इतना याद रखना चाहिए कि इन मंत्रों को तोते की भांति रटने से कुछ भी लाभ न होगा। उसमें अपनी आत्मा लगा देनी चाहिए। तोते तो यंत्र की तरह ऐसे मन्त्र पढ़ते रहते हैं। हमें उन्हें ज्ञान-पूर्वक जपना चाहिए। अवांछनीय विचारों को निवारण करने की भावना रख कर और मन्त्र की शक्ति में ऐसा कर सकने का विश्वास रख कर जपना चाहिए।

अठारहवाँ अध्याय

मनोवृत्तियों का प्रभाव

एक सज्जन लिखते हैं—"यंग इण्डिया" में सन्तान पर आपने जो लेख लिखे हैं, उन्हें मैं खूब मन लगा कर पढ़ता रहा हूँ। मुझे आशा है कि आपने जे० ए० हैडफील्ड की "साईकॉलोजी एण्ड मॉरल्स" नामक पुस्तक पढ़ी होगी। मैं आपका ध्यान इस पुस्तक के निम्न-लिखित उद्धरण की ओर दिलाना चाहता हूं:—

"विषय-भोग स्वेच्छाचार उस दशा में कहलाता है जब कि यह प्रवृत्ति नीति की विरोधी मानी जाती हो, और विषय-भोग को निर्दोष आनन्द तब माना जाता है जब कि इस प्रवृत्ति को प्रेम का चिह्न माना जाय। विषय-वासना का इस प्रकार व्यक्त होना दाम्पत्य प्रेम को वस्तुतः गाढ़ा बनाता है, न कि उसे नष्ट करता है। किन्तु एक ओर तो मनमाना सम्भोग करने से, और दूसरी ओर सम्भोग के विचार को तुच्छ सुख मानने के भ्रम में पड़ कर उससे बचे रहने से, प्रायः अशान्ति उत्पन्न होती है और प्रेम कम पड़ जाता है।" अर्थात् लेखक की समझ में सम्भोग से सन्तानोत्पत्ति तो होती है, उसके अतिरिक्त उसमें दाम्पत्य-प्रेम को बढ़ाने का धार्मिक गुण भी रहता है।

"यदि लेखक की यह बात सच है, तो मुझे आश्चर्य है कि आप अपने इस सिद्धान्त का समर्थन कि सन्तान पैदा करने की इच्छा से किया हुआ सम्भोग तो उचित है, अन्यथा नहीं। किस प्रकार कर सकते हैं मेरा तो अपना विचार यह है कि लेखक की

उपर्युक्त बात बिलकुल सच है, क्योंकि केवल यही नहीं कि वह प्रसिद्ध मानसशास्त्रवेत्ता है, वरन् मुझे स्वयं ऐसे मामले मालूम हैं, जिनमें शरीर-संग के द्वारा प्रेम को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा को रोकने की चेष्टा करने से ही दाम्पत्य-जीवन नीरस या नष्ट हो गया है।

"अच्छा यह उदाहरण लीजिए:—एक युवक और एक युवती एक दूसरे के साथ प्रेम करते हैं और उनका यह करना सुन्दर तथा ईश्वर-कृत व्यवस्था का एक अङ्ग है। किन्तु उनके पास अपने बालक को शिक्षा देने के लिये पर्याप्त धन नहीं है—और मैं समझता हूँ कि आप इससे सहमत हैं कि शिक्षा इत्यादि देने की योग्यता न रखते हुए सन्तान पैदा करना पाप है—या यह समझ लीजिए कि सन्तान पैदा करना स्त्री के स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होगा या यह कि उसे पहले ही बहुत से बच्चे हो चुके हैं।

"आपके कथनानुसार तो इस दम्पति के आगे केवल दो ही मार्ग हैं—या तो वे विवाह करके अलग रहें जिससे उनके बीच प्रेम की समाप्ति हो जायगी—किन्तु यदि ऐसा होगा तो हैडफील्ड की उपर्युक्त युक्ति के अनुसार अशान्ति उत्पन्न होगी, या वे विवाह ही न करें, किन्तु इस दशा में भी प्रेम तो जाता रहेगा। इसका कारण यह है कि प्रकृति तो मनुष्य-कृत योजनाओं की अवहेलना ही किया करती है। हाँ, यह अवश्य हो सकता है कि वे एक दूसरे से अलग हो जायँ, किन्तु इस वियोग में भी उनके मन में विकार तो उठते रहेंगे ही। और यदि सामाजिक व्यवस्था ऐसी बदल दी जाय, जिसमें सब लोगों के लिये उतने ही बच्चों का पालन करना संभव हो जितने वे पैदा कर सकें, तो भी समाज को अतिशय सन्तानोत्पत्ति का, और प्रत्येक स्त्री को सीमा से अधिक सन्तान उत्पन्न करने का भय तो बना ही रहेगा। इसका कारण यह है

कि पुरुष अपने को अत्यधिक रोके रहते हुए भी वर्ष में एक बच्चा तो पैदा कर ही लेगा। आपको या तो ब्रह्मचर्य का समर्थन करना चाहिए या सन्तान-निग्रह का; क्योंकि समय-समय पर किये हुए सम्भोग का परिणाम यह हो सकता है, जैसा कभी-कभी पादरियों में हुआ करता है कि ईश्वर की इच्छा के नाम पर पुरुष के द्वारा पैदा किया हुआ एक बच्चा प्रति वर्ष जनन करने से स्त्री मर जाय।

"जिसे आप आत्म-संयम कहते हैं, वह प्रकृति के कार्य में उतना ही बड़ा हस्तक्षेप है वरन् वास्तव में अधिक जितना कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम साधन हैं। संभव है, पुरुष इन साधनों की सहायता से विषय-भोग में अतिशयता करे, परन्तु उससे सन्तति की उत्पत्ति तो रुक जायगी अन्त में इसका दुःख उन्हीं को भोगना होगा—दूसरे को नहीं। इसके विपरीत जो लोग इन साधनों का उपयोग नहीं करते, वे भी अतिशयता के दोष से कदापि मुक्त नहीं हैं, और उनके पाप परिणाम केवल उन्हीं को नहीं, वरन् उनकी सन्तति को भी, जिनकी उत्पत्ति को वे रोक नहीं सकते भोगना पड़ता है। इँगलैण्ड में आजकल खानों के मालिकों और मजदूरों में जो झगड़ा चल रहा है, उसमें खानों के मालिकों की विजय निश्चित है। इसका कारण यह है कि खानों के मजदूर बहुत बड़ी संख्या में हैं। और सन्तानोत्पत्ति की निरंकुशता से बेचारे बच्चों का ही बिगाड़ नहीं होता, वरन् समस्त मानव-जाति का होता है।"

इस पत्र में मनोवृत्तियों तथा उनके प्रभाव का अच्छा परिचय मिलता है। जब मनुष्य का मन रस्सी को साँप समझ लेता है, तब उस विचार के कारण वह पीला पड़ जाता है, और या तो वहाँ से भागता है या उस कल्पित साँप को मार डालने की इच्छा से लाठी उठाता है। दूसरे, मनुष्य पर-स्त्री को अपनी पत्नी मान बैठता है

और उसके मन में पशु-वृत्ति उत्पन्न होने लगती है। जिस क्षण वह उसे पहचान कर अपनी यह भूल जान लेता है, उसी क्षण उसका वह विकार ठण्डा पड़ जाता है।

यही बात उस सम्बन्ध में भी मान ली जाय जिसकी चर्चा पत्र-लेखक ने ऊपर की है। जैसा कि संभव है, सम्भोग की इच्छा को तुच्छ मानने के भ्रम में पड़कर उससे बचने से प्रायः अशान्ति उत्पन्न हो और प्रेम में कमी आ जाय—यह एक मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ। किन्तु यदि संयम, प्रेम-बन्धन को अधिक दृढ़ बनाने के लिये रक्खा जाय, प्रेम को शुद्ध बनाने के लिये तथा एक अधिक अच्छे काम के लिये वीर्य का संचय करने के अभिप्राय से किया जाय, तो वह अशान्ति के स्थान पर शान्ति ही बनावेगा और प्रेम-गाँठ को ढीली न करके उलटे उसे दृढ़ करेगा। यह दूसरी मनोवृत्ति का प्रभाव हुआ। जिस प्रेम का आधार पशुवृत्ति की तृप्ति है, वह अन्त में स्वार्थ ही है और थोड़े-से दबाव से भी वह ठण्डा पड़ सकता है। फिर, जब पशु-पक्षियों की सम्भोग-तृप्ति का कोई आध्यात्मिक स्वरूप नहीं है, तब मनुष्यों में ही होनेवाले सम्भोग-तृप्ति को आध्यात्मिक स्वरूप क्यों दिया जाय? जो वस्तु जैसी है उसे हम वैसे ही क्यों न देखें? यह तो वंश को स्थिर रखने के लिये एक ऐसी क्रिया है, जिसकी ओर हम सब बलात्कार खिंचे जाते हैं। हाँ, किन्तु मनुष्य अपवाद-स्वरूप है, क्योंकि वह एक ऐसा प्राणी है जिसको ईश्वर ने मर्यादित स्वतन्त्र इच्छा दी है और इसके बल से वह जाति-उन्नति के लिये और पशुओं की अपेक्षा उच्चतम आदर्श की पूर्ति के लिये, जिसके लिये वह संसार में आया है, इन्द्रिय-संयम करने की क्षमता रखता है। संस्कार के वश होकर ही हम यों मानते हैं कि सन्तानोत्पत्ति के कारण के सिवा भी स्त्री-प्रसङ्ग आवश्यक और प्रेम की वृद्धि के लिये इष्ट है।

बहुतों का अनुभव यह है कि सन्तानोत्पादन की इच्छा के बिना केवल भोग के ही लिये किया हुआ स्त्री-प्रसंग प्रेम को न तो बढ़ाता है और न उसको बनाये रखने के लिये या उसको शुद्ध करने के लिये ही आवश्यक है। वास्तव में, ऐसे भी उदाहरण अवश्य दिये जा सकते हैं जिनमें इन्द्रिय-निग्रह से प्रेम और भी दृढ़ हो गया है। हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह आत्म-निग्रह पति और पत्नी को पारस्परिक आत्म-उन्नति के लिये अपनी इच्छा से करना चाहिए।

मानव-समाज तो लगातार उन्नति करती जानेवाली या आध्यात्मिक विकास करनेवाली वस्तु है। यदि मानव-समाज इस तरह उद्‌र्ध्वगामी है, तो उसका आधार शारीरिक आवश्यकताओं पर दिनों-दिन अधिकाधिक अंकुश रखने पर निर्भर होना चाहिये। इस प्रकार विवाह को तो एक ऐसी धर्म-ग्रंथि समझना चाहिए जो कि पति और पत्नी दोनों पर अनुशासन करे और उनपर यह सीमा आवश्यक कर दे कि वे सदा अपने ही बीच में इन्द्रियभोग करेंगे, और सो भी केवल सन्तति-जनन के कारण से और उसी दशा में जब कि वे दोनों उसके लिये उद्यत और इच्छुक हों। तब तो उक्त पत्र की दोनों बातों में प्रजोत्पादन की इच्छा को छोड़कर इन्द्रिय-भोग का और कोई प्रश्न उठता ही नहीं है।

जिस प्रकार उक्त लेखक सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त भी स्त्री-संग को आवश्यक बतलाता है, उसी प्रकार यदि हम भी प्रारम्भ करें, तो तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। परन्तु संसार के प्रत्येक भाग में थोड़े-से उत्तम पुरुषों के सम्पूर्ण संयम के दृष्टान्तों की उपस्थिति में उक्त सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं है। यह कहना कि ऐसा संयम अधिकांश मानव-समाज के लिये कठिन है, संयम की शक्यता और इष्टता के विरुद्ध कोई युक्ति नहीं हो सकती।

सौ वर्ष पूर्व अधिकांश मनुष्यों के लिये जो शक्य नहीं था, वह आज शक्य पाया गया है। और असीम उन्नति करने के निमित्त हमारे सामने पड़े हुए काल के चक्र में १०० वर्षों की अवधि ही क्या है? यदि वैज्ञानिकों का अनुमान सत्य है, तो अभी कल ही तो हमको मनुष्य का चोला मिला था। उसकी मर्यादा को कौन जानता है? और किसमें साहस है कि कोई उसकी मर्यादा को स्थिर कर सके? निस्सन्देह हम नित्य ही भला या बुरा करने की निस्सीम शक्ति उसमें पाते रहते हैं।

यदि संयम की शक्यता और इष्टता मान ली जाय, तो हमको उसे करने के योग्य बनने के साधनों को ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करनी चाहिये। और जैसा कि मैं अपने किसी पिछले लेख में लिख चुका हूँ, यदि हम संयम से रहना चाहते हों, तो हमें अपना जीवन-क्रम बदलना ही पड़ेगा। लड्डू हाथ में रहे और पेट में भी चला जाय—यह कैसे हो सकता है? यदि हम जननेन्द्रिय का संयम करना चाहते हैं, तो हमको अन्य सभी इन्द्रियों का संयम भी करना ही होगा। यदि हाथ, पैर, नाक, कान, आँख इत्यादि की लगाम ढीली कर दी जाय, तो जननेन्द्रिय का संयम असम्भव है। अशान्ति चिड़चिड़ापन, हिस्टीरिया सिड़ीपन आदि, जिसके लिये लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने के प्रयत्न को दोषी ठहराते हैं, वास्तव में अन्त समय अन्य इन्द्रियों के ही असंयम का फल सिद्ध होंगे। किसी भी पाप और प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके कोई भी आदमी दंड से बच नहीं सकता।

मैं शब्दों के लिये झगड़ा नहीं चाहता। यदि आत्म-संयम भी प्रकृति के नियमों का ठीक वैसा ही उल्लंघन है, जैसा कि गर्भाधान को रोकने के कृत्रिम उपाय हैं, तो भले ऐसा कहा जाय। किन्तु मेरा विचार तब भी यही बना रहेगा कि इनमें यह उल्लंघन

कर्तव्य और इष्ट है, क्योंकि इसमें व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति होती है और इसके विपरीत दूसरे से उन दोनों का पतन होता है। सन्तति-निग्रह का एक ही सच्चा मार्ग है-ब्रह्मचर्य और स्त्री-प्रसंग के पश्चात् सन्तति-वृद्धि रोकने के कृत्रिम साधनों के प्रयोग से मनुष्य-जाति का नाश ही होगा।

अन्त में, यदि खानों के मालिक असंगत मार्ग पर होते हुए भी विजयी होंगे, तो इसलिये नहीं कि मजदूरों में संतति की संख्या बहुत बढ़ गई है, वरन् इसलिये कि मजदूरों ने एक भी इन्द्रियों के संयम का पाठ नहीं सीखा है। यदि इन लोगों के बच्चे न होते, तो इन्हें न तो उन्नति करने के लिये उत्साह ही होता और न तब उनके पास वेतन-वृद्धि माँगने के लिये कोई कारण ही होता। क्या मदिरा पीने, जुआ खेलने या तमाखू पीये बिना उनका काम नहीं चल सकता? क्या यही कोई उचित उत्तर हो जायगा कि खानों के मालिक इन्हीं दोषों में लिप्त रहते हुए भी उनके ऊपर हावी हैं? यदि मजदूर लोग पूँजीपतियों से अच्छे होने का दावा नहीं कर सकते, तो उनको जगत की सहानुभूति माँगने का अधिकार ही क्या है? क्या इसलिये कि पूँजीपतियों की संख्या बढ़े और पूँजीवाद का हाथ दृढ़ हो? हमें यह आशा देकर प्रजावाद की दुहाई देने को कहा जाता है। जब कि वह संसार में स्थापित हो जायगा तो हमें अच्छे दिन देखने को मिलेंगे। इसलिये हमें उचित है कि हम स्वयं उन्हीं बुराइयों का प्रचार आप ही न करें, जिनका दोष हम पूँजीपतियों तथा सम्पत्तिवाद पर लगाया करते हैं।

मुझे दुःख के साथ यह बात मालूम है कि आत्म-संयम सरलता से नहीं किया जा सकता। किन्तु उसकी धीमी गति से हमें घबराना न चाहिये। शीघ्रता से कुछ प्राप्त नहीं होता। अधैर्य

से जन-साधारण में या मजदूरों के सामने बड़ा भारी काम पड़ा है, उनको संयम का वह पाठ अपने जीवन-क्रम से निकाल न देना चाहिये, जो कि मानव-जाति के बड़े-से-बड़े शिक्षकों ने अपने अमूल्य अनुभव से हमको पढ़ाया है। जिन मूलाधार सिद्धान्तों की शिक्षा उन्होंने हमें दी है, उनकी परीक्षा आधुनिक प्रयोग-शालाओं से कहीं अधिक सम्पन्न प्रयोगशाला में की गई थी। उनमें सब किसी ने हमें आत्म-संयम करने की ही शिक्षा दी है।

उन्नीसवां अध्याय

धर्म-संकट

"मैं ३० वर्ष का विवाहित पुरुष हूँ। मेरी धर्म-पत्नी की भी प्रायः यही आयु है। हमें पाँच सन्तानें हुईं, जिनमें सौभाग्य से दो तो मर गई हैं। मैं अपने शेष बच्चों के प्रति अपने उत्तरदायित्व को जानता हूँ। किन्तु उस उत्तरदायित्व को पूरा करना यदि असंभव नहीं तो मैं बहुत दुस्तर अवश्य पाता हूँ। आपने आत्म-संयम की सम्मति दी है। परन्तु, मैं पिछले तीन वर्षों से उसका पालन करता आ रहा हूँ, किन्तु अपनी सहधर्मिणी की इच्छाओं के बहुत ही विरुद्ध, वह तो उसी वस्तु को माँगती है जिसे आम लोग जीवन का आनन्द कहते हैं। आप इतने ऊँचे पर बैठ कर भले ही इसे पाप कह सकते हैं। किन्तु वह तो इस विषय पर आपकी इस दृष्टि से विचार नहीं करती और न उसे और अधिक बच्चे पैदा करने का ही भय है। उसे उत्तरदायित्व का वह ध्यान नहीं है, जिसके मुझमें होने का विश्वास कर मैं

अपने को बड़भागी मानता हूँ। मेरे माता-पिता मेरी अपेक्षा मेरी पत्नी का ही अधिक साथ देते हैं और नित्य ही घर में दाँता-किलकिल मची रहती है। कामेच्छा की पूर्त्ति न होने से मेरी स्त्री का स्वभाव इतना चिड़चिड़ा और क्रोधी हो गया है कि वह थोड़ी सी बात पर उबल पड़ती है। अब मेरे सामने प्रश्न यह है कि मैं इस कठिनाई को हल कैसे करूँ? मेरी शक्ति के बाहर मुझे लड़के वाले हैं। उनका पालन करने योग्य धन मेरे पास नहीं है। पत्नी को समझा सकना बिल्कुल असम्भव-सा जान पड़ता है। यदि उसकी कामेच्छा पूरी न की जाय, तो यह भय है कि वह कहीं चली जाय या पगली हो जाय, या सम्भव है कहीं आत्म-हत्या कर बैठे। मैं आपसे कहता हूँ कि यदि इस देश का विधान मुझे आज्ञा देता, तो मैं उसी तरह सभी अनचाहे लड़कों को गोली मार देता, जिस तरह कि आप लावारिस कुत्तों को मरवाते। गत तीन महीनों से मुझे दिन-रात में दो समय भोजन प्राप्त नहीं हुआ है, नाश्ता या जलपान भी नहीं मिल सका है। मेरे सिर ऐसे काम-धन्धे भी पड़े हुए हैं कि जिनसे मैं क्रमशः कई दिनों तक उपवास भी नहीं कर सकता। पत्नी मुझसे कुछ सहानुभूति नहीं रखती, क्योंकि वह मुझे खफती या पागल-सा समझती है। 'सन्तति-निग्रह' के साहित्य से मैं परिचित हूँ। वह साहित्य बहुत लुभावने ढंग से लिखा गया है। और मैंने आत्म-संयम पर आपकी भी किताब पढ़ी है। मैं तो यहाँ बाघ और मगर के बीच में पड़ा हूँ।"

मैं पत्र-लेखक को कई वर्ष से जानता हूँ। वे युवक हैं। उन्होंने अपना पूरा नाम-ठाम पत्र में दिया है। उनके पत्र का सही सारांश ऊपर दिया गया है। अपना नाम देते हुए वे डरते थे। इसलिये वे लिखते हैं कि, 'यंगइन्डिया' में चर्चा की जा सकने की आशा

से उन्होंने मेरे पास दो गुमनाम पत्र लिखे थे। इस तरह के इतने अधिक गुमनाम पत्र मेरे पास आते रहते हैं कि मैं उनकी चर्चा करने में हिचकिचाता हूं। उसी प्रकार इस पत्र पर भी चर्चा करने में मुझे बहुत झिझक है, यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह पत्र सच्चा है और प्रयत्नशील पुरुष का लिखा हुआ है। यह विषय ही इतना नाज़ुक है। किन्तु मैं तो दावा करता हूँ कि ऐसे विषयों का मुझे पर्याप्त अनुभव है। ऐसा दावा करते हुए और मुख्यकर इसलिये कि कई ऐसे ही मामलों में मेरे ढंग से लोगों को छुटकारा मिला है, मैं इस स्पष्ट कर्तव्य के पालन से दिल नहीं चुरा सकता।

जहाँ तक अङ्गरेजी पढ़े-लिखे लोगों से सम्बन्ध है, वहाँ की स्थिति दुगुनी कठिन है। सामाजिक योग्यता की दृष्टि से पति-पत्नी के बीच इतना भारी अन्तर होता है कि जिसे मिटाना असम्भव है। कुछ नवयुवक यह सोचते हुए जान पड़ते हैं कि अपनी पत्नियों का ध्यान न रखने में ही हमने यह प्रश्न हल कर लिया है, यद्यपि उन्हें भलीभाँति पता है कि उनकी बिरादरी में तलाक सम्भव नहीं है और इसलिये उनकी पत्नियाँ पुनर्विवाह नहीं कर सकतीं। और तो भी दूसरे लोग—और इन्हीं की संख्या बहुत अधिक है अपनी पत्नियों को केवल आनन्द लूटने का साधन बनाते हैं और उन्हें अपने मानसिक जीवन में भाग नहीं देते। बहुत ही थोड़े लोग ऐसे हैं जिनका अंतःकरण जागृत हुआ है—किन्तु उनकी संख्या दिनों दिन बढ़ती जा रही है। उनके सामने भी वैसी ही नैतिक समस्या आ खड़ी हुई है जैसी कि मेरे पत्र-लेखक के सामने है।

मेरी सम्मति में सम्भोग को यदि उचित या नियमानुकूल मानना है, तो उसकी आज्ञा तभी दी जा सकती है जब कि दोनों पक्ष उसकी चाहना करें। पति को पत्नी से या पत्नी को पति से अपनी कामेच्छा की पूर्ति बल-पूर्वक कराने के अधिकार को मैं नहीं

मानता। और यदि इस विषय में मेरी स्थिति सही है तो पति पर ऐसा कोई नैतिक दबाव नहीं है कि जिससे वह पत्नी की मांगें पूरी करने को बाध्य हो। किन्तु यों अस्वीकार करने से ही पति पर और भी बड़ा भारी और ऊँचा उत्तरदायित्व आ पड़ता है। वह अपने आपको बहुत बड़ा साधक मानता हुआ अपनी पत्नी को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेगा, किन्तु नम्रता-पूर्वक इसे स्वीकार करेगा कि उसके लिये जो बात आवश्यक नहीं है, वह उसकी पत्नी के लिये परमावश्यक वस्तु है। इसलिये वह उसके साथ अत्यन्त नम्रता का व्यवहार करेगा और अपनी पवित्रता में यह विश्वास रक्खेगा कि उसकी पत्नी अपनी वासना को अत्यन्त ऊँचे प्रकार की शक्ति-रूप में बदल सकेगी। इसलिये उसे अपनी पत्नी का सच्चा मित्र नायक और वैद्य बनना होगा। पत्नी में उसे पूरा-पूरा विश्वास करना होगा, उससे कुछ भी छिपाना न होगा और अटूट धैर्य से उसे अपनी पत्नी को इस काम का नैतिक आधार समझाना पड़ेगा; यह बतलाना होगा कि पति-पत्नी के बीच सचमुच में कैसा सम्बन्ध होना चाहिए और विवाह का सच्चा अर्थ क्या है। यह काम करते हुए वह देखेगा कि पहले जो बहुत-सी बातें स्पष्ट नहीं थीं, अब स्पष्ट हो जायँगी और यदि उसका अपना संयम सच्चा होगा, तो वह अपनी पत्नी को अपने और भी निकट खींच लेगा।

इस उदाहरण के विषय में तो मुझे कहना ही पड़ेगा कि केवल और अधिक सन्तानोत्पादन से बचने की इच्छा ही पत्नी को संतुष्ट करने से इनकार करने का पर्याप्त कारण नहीं है। बच्चों का भार उठाने के भय से पत्नी की प्रेमयाचना को अस्वीकार करना तो कायरता-सी है। अगणित सन्तानोत्पादन को रोकना दोनों पक्षों के अलग-अलग या साथ-साथ अपनी कामवासना पर लगाम लगाने का अच्छा कारण है, किन्तु दम्पति में से एक के अपने

संग से एकत्र शयन का अधिकार छीन लेने का यह भरपूर कारण नहीं है।

और अन्त में बच्चों से इतनी घबराहट ही किसलिये हो? अवश्य ही ईमानदार, परिश्रमी और बुद्धिमान् पुरुषों के लिए कई लड़कों का पालन कर सकने की कमाई करने की गुंजाइश तो है ही। मैं स्वीकार करता हूं कि मेरे पत्र-लेखक-जैसे आदमी के लिये, जो देश-सेवा में अपना सारा समय लगाने की सच्ची चेष्टा ईमानदारी से करता है, बड़े और बढ़ते हुए परिवार का पालन करना और साथ-ही-साथ देश की भी सेवा करना, जिसकी करोड़ों भूखी सन्तानें हैं, कठिन है। मैंने इन पृष्ठों में प्रायः लिखा है कि जब तक भारतवर्ष दास है, यहाँ बच्चे पैदा करना ही भूल है। किन्तु यह तो नवयुवकों और युवतियों के विवाह ही न करने का बड़ा अच्छा कारण है; एक के दूसरे को दाम्पत्य सहयोग न देने का पर्याप्त कारण नहीं है। हाँ, सहयोग न करना—सम्भोग न करना—भी उचित हो सकता है, वरन् न करना ही धर्म हो जाता है, जब कि शुद्ध धर्म के नाम पर ब्रह्मचर्य-पालन की इच्छा अदम्य हो उठे। जब वह इच्छा सचमुच में पैदा हो जायगी, तब उसका बड़ा अच्छा प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा। यदि मान लेवें कि समय पर उसका भला प्रभाव भी पड़ा, तो भी जीवन-सङ्गी के पागल हो जाने या मर जाने की जोखिम उठाकर भी ब्रह्मचर्य-पालन करना कर्तव्य हो जाता है। ब्रह्मचर्य के लिये भी वैसे ही वीरता-पूर्ण त्याग की आवश्यकता है जैसे कि सत्यता या देशोद्धार के लिये है। मैंने ऊपर जो लिखा है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि कृत्रिम उपायों से संतान-निग्रह करना अनैतिक है और मेरे तर्क के नीचे जीवन की जो भावना छिपी हुई है, उसमें इसे स्थान नहीं है।

बीसवां अध्याय

परिशिष्ट

जनन और प्रजनन

["ओपन कोर्ट" नामक एक अङ्गरेजी मासिक-पत्र में लिखे श्री विलियम लोफ्टसहेयर के इस विषय के एक लेख का अनुवाद नीचे दिया है।—सं०]

प्राणि-शास्त्र में जनन

एक-कोषीय जीवों की अनुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करने पर पता चला है कि क्षुद्रतम जीवों में वंश-वृद्धि के लिये शरीर के टुकड़े स्वयं हो जाते हैं। पोषण पाने से ऐसे जीव के शरीर की वृद्धि होती जाती है और जब वह अपनी जाति की अपेक्षा बड़े-से बड़ा हो जाता है तब उसके दो विभाग होने लगते हैं और धीरे-धीरे शरीर के ही दो टुकड़े हो जाते हैं। साधारण सुविधाएँ यानी पानी और पोषण प्राप्त होते जाने पर ज्ञात होता है कि इन्हीं क्रियाओं में उसका सारा जीवन-समाप्त हो जाता है, किन्तु वे सुविधाएँ न मिलने पर, कभी-कभी दो कोषों का एक में मिलकर पुनर्यौवन होते हुए भी देखा जाता है, परन्तु उनके मिलन से सन्तानोत्पत्ति नहीं होती।

बहु-कोषीय जीवों में भी पोषण और वृद्धि की क्रियाएँ नीचे के जीवों के समान ही चलती हैं, परन्तु एक और नई क्रिया देखने में आती है। शरीर के अलग-अलग कोषपुंजों के काम प्रायः अलग-अलग होते हैं, कुछ पोषण प्राप्त करते हैं तो कुछ उसे

बाँटने का काम करते हैं, कुछ गति के लिये हैं तो कुछ रक्षा के लिये जैसे कि चमड़ा। वे कोषपुंज शरीर-विभजन की प्राथमिक क्रिया छोड़ देते हैं, जिन्हें, कुछ नये काम मिलते हैं। किन्तु कुछ कोष-पुंजों के प्रति, जिन्हें शरीर में कुछ और भीतरी जगह मिलती है वह काम बचा रहता है। दूसरे पुंज, जिनमें परिवर्तन हो चुका है, इनकी रक्षा और सेवा करते हैं, किन्तु ये ज्यों-के-त्यों ही बने रहते हैं। उनमें विभजन पहले जैसा ही होता है, किन्तु बहु-कोषीय शरीर के भीतर ही; और समय पाकर कुछ तो बाहर भी निकाल दिये जाते हैं। तथापि उन्हें एक नई शक्ति मिल जाती है। अपने पूर्वजों के समान दो टुकड़े हो जाने के बदले उनके पुंजों का विभ-जन या वृद्धि, अलग-अलग टुकड़े हुए बिना ही होती है। यह क्रिया तब तक चलती रहती है, जब तक वह प्राणी, अपनी जाति की अपेक्षा पूर्ववृद्धि को नहीं पहुँच जाता, किन्तु उसके शरीर में हम एक नई बात देख पाते हैं, वह यह कि मौलिक कीटाणुओं का काम केवल बाह्य-जनन का ही नहीं रह जाता वरन् आन्तरिक कोषों की उत्पत्ति के लिये भी वे जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ती है, कोष दिया करते हैं। इस प्रकार, ये किसी मुख्य काम के लिये पहले ही से निश्चित न किये गये कोष, एक साथ ही दो काम करते हैं, यानी आन्तरिक प्रजनन या शरीर का विकास और बाह्य-जनन या वंश-वृद्धि का कार्य। यहाँ हम प्रजनन और जनन इन दो क्रियाओं का अन्तर स्पष्ट समझ लें। एक और महत्वपूर्ण बात है। प्रजनन—आन्तरिक विकास—व्यक्ति के लिये परमावश्यक है और इसलिये आवश्यक और पहला काम है; जनन या वंश-विस्तार का काम तो कोषों की अधिकता होने से ही होगा और इसलिये दूसरा कम महत्व का है। कदाचित् दोनों ही पोषण पर निर्भर रहते हैं, क्योंकि यदि पोषण पूरा न मिले तो आन्तरिक

विकास का काम ठीक न हो सकेगा और न कोषों की अधिकता होगी, न वंश-विस्तार ही होने की आवश्यकता या सम्भावना होगी। इसलिये जीवन का नियम यह है कि इस स्थिति में पहले प्रजनन के लिए जीवकोषों का पोषण किया जाय और तब कहीं जनन के लिये। यदि पोषण पूरा न हो सके तो उस पर पहला अधिकार होगा प्रजनन का, और जनन की क्रिया बन्द रखनी होगी। यों हम सन्तानोत्पत्ति की रोक के मूल का पता पा सकते हैं और इसी की पिछली स्थितियों, ब्रह्मचर्य और वैराग्य तक प्रायः जा सकते हैं। आन्तरिक प्रजनन की क्रिया कभी रुक नहीं सकती और उसके रुकने का अर्थ है, मृत्यु और, इसी प्रकार मृत्यु की जड़ को भी हम देख पाते हैं।

जीव विद्या में प्रजनन

मनुष्यों और पशुओं में लिङ्गभेद अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है और सामान्य नियम बन गया है। इन जीवों का विचार करने के पहले हमें बीच की स्थिति को देखना पड़ेगा अर्थात् वह जो अलिङ्गिक स्थिति (एक कोषीय जीव) के बाद और द्वि-लिङ्गिक स्थिति के पहले की है। इसे उभय-लिङ्गी का नाम दिया गया है क्योंकि इसमें नर और मादा, दोनों के गुण विद्यमान होते हैं। अब भी कुछ ऐसे जीव हैं, जिनमें यह स्थिति देखने में आती है। उनमें आन्तरिक कोषों की वृद्धि तो उसी प्रकार होती जाती है, किन्तु कुछ कोषों के शरीर से बिलकुल निकल जाने के बदले, वे एक अंग से दूसरे अंग में चले जाते हैं और वहीं उनका पोषण तब तक होता रहता है, जब तक वे स्वतंत्र जीवन के योग्य नहीं हो जाते।

विकास का नियम यह जान पड़ता है कि चाहे एक कोषीय जीव हो या बहु कोषीय या उभय-लिङ्गी, किन्तु सभी दशाओं में

सन्तान का विकास वहाँ तक होते जाना सम्भव है, जहाँ तक कि उसके माता-पिता का, उसके उत्पन्न होने के समय तक हो चुका था। इस प्रकार यह तो व्यक्ति की ही उन्नति हुई; जब कभी उसे सन्तान होती है, वह व्यक्ति ही, पहले से उन्नतम स्थिति में पहुँचता है, या पहुँचता होगा; फलतः उसकी सन्तान अपने माता-पिता के साधारण विकास को प्राप्त हो सकेगी। प्रत्येक जाति और व्यक्ति के लिये जनन-शक्ति की अवधि अलग-अलग होगी, किन्तु आदर्श रूप में तो वह यौवनावस्था से लेकर वृद्धावस्था के प्रारम्भ तक होती है। समय से पहले या वृद्धावस्था में सन्तानोत्पत्ति होने से, सन्तान में माता-पिता की निर्बलता उतर आयेगी। यहाँ हम तब शारीरिक नियमों के अनुसार सम्भोगनीति का एक नियम देख पाते हैं। वंश-विस्तार और शरीर के आन्तरिक प्रजनन के विचार से सन्तानोत्पत्ति के लिये सबसे अधिक लाभकर समय केवल पूर्ण यौवन ही है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। उभय-लिङ्गिक सृष्टि के साथ-साथ एक नई बात देखने में आती है वह यह है कि दोनों लिङ्गों के उसके अंग केवल अलग-ही-अलग नहीं रहते वरन् स्वतंत्र रूप से अपने-अपने शुक्रकोष बनाते जाते हैं। नर-अंग तो पुराना आन्तरिक जनन का काम, शुक्रकोषों को बना-बनाकर करता ही जाता है—जिन्हें बाहर निकालकर मादा-पिण्ड में प्रवेश कराने के कारण वीर्यकीट कहते हैं—और मादा अङ्ग भी अपने जीवकोष बनाते ही जाते हैं; किन्तु पुरुष-अंग के जीवकोष को गर्भाधान के लिये रख लेते हैं, न कि निकाल देते हैं। प्रत्येक दशा में व्यक्ति के लिये आन्तरिक प्रजनन प्राथमिक और परमावश्यक कार्य है। गर्भाधान के पश्चात् प्रति क्षण में जीव का आन्तरिक प्रजनन होता रहता है। मनुष्य जाति में यौवनावस्था में सन्तानोत्पत्ति हो सकती है,

किन्तु केवल जाति के लिये उससे व्यक्ति को लाभ पहुँचाना आवश्यक नहीं है। नीची श्रेणियों के समान यहाँ भी यदि आन्तरिक प्रजनन की क्रिया रुक जाय, या ठीक-ठीक न चले, तो बीमारी या मौत आवेगी। यहाँ भी जाति और व्यक्ति के हितों में चढ़ा-ऊपरी है। यदि कोष उबरते न हों तो, बाह्य जनन में कोप कम करने से आन्तरिक प्रजनन के काम में विघ्न पड़ेगा ही! हकीकत तो यह है कि सभ्य मनुष्यों में संतानोत्पत्ति की आवश्यकता से कहीं अधिक संभोग हुआ करता है, और वह भी आन्तरिक प्रजनन के मत्थे, जिसके कारण रोग, मृत्यु और दूसरे कष्ट घर कर लेते है।

मनुष्य-शरीर का कुछ और ध्यान से हम विचार करें। उदाहरण के लिये हम पुरुप-शरीर को लेंगे, यद्यपि आवश्यक हेर-फेर के साथ स्त्री-शरीर में भी वे ही क्रियाएँ दिखलाई पड़ती हैं।

शुक्र-कोषों का केन्द्रीय कोष ही जीव का सबसे पुराना और मौलिक स्थान है। आरम्भ से गर्भस्थ जीव-कोपों की बढ़ती से, जिनका माता के शरीर से पोपण होता है, हर घड़ी बढ़ता रहता है। यहाँ भी जीवन का नियम है, "शुक्र-कोपों का पोपण करो" जब वे बढ़ते और उनका वर्गीकरण होता है, तब वे आवश्यकता के अनुसार अस्थायी नये रूप या नये काम लेते हैं। जन्म की घड़ी से इसमें कोई बड़ा अन्तर नहीं पड़ता। पहले शुक्र-कोषों को जो पोषण नाभि-नाल से मिलता था, वह अब मुँह के रास्ते मिलने लगता है। वे संख्या में जल्दी-जल्दी बढ़ने लगते हैं, और, जहाँ कहीं पुराने अङ्गों को ठीक करने की आवश्यकता हुई, जो सदैव बनी ही रहती है, वहाँ ये व्यवहार किये जाते हैं। नाड़ियों के द्वारा ये अपने स्थान से लेकर सारे शरीर में फैलाये जाते हैं। बड़े-बड़े समूहों में वे मुख्य काम ले लेते हैं और शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों का पोषण करते हैं। वे हजारों बार मौत को गले लगाते हैं, जिसमें उनका

कोष-समाज जीता रहे। मुर्दे कोष शरीर की तह पर आ जाते हैं, और मुख्यकर हड्डियों, दाँतों, चमड़े और बालों को दृढ़ बनाने के काम में आते हैं, जिसमें शरीर की शक्ति बढ़े और ठीक रक्षा हो। व्यक्ति के उच्च जीवन और उसपर निर्भर सभी बातों का मूल्य इनकी मौत से चुकाया जाता है यदि वे पोषण न लें, दूसरे कोषों को पैदा न करें; अलग-अलग न हो जायँ, भिन्न-भिन्न वर्गों में न बटें, और अन्त में मरें नहीं तो शरीर स्थिर नहीं रह सकता।

शुक्र से या वीर्य से दो तरह के जीवन मिलते हैं। १—आंतरिक या प्रजनन का; २—बाह्य या जनन का, वंश-विस्तार वाला। जैसा कि हम कह चुके है, शरीर के जीवन का आधार आन्तरिक प्रजनन है और इसको तथा ऊपरी जनन को एक ही आधार पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी कारण यह सहज ही देखा जा सकता है कि मुख्य-मुख्य दशाओं में ये दोनों क्रियाएँ संभवतः परस्पर विरोधिनी हो सकती हैं, परस्पर शत्रुता रख सकती हैं।

प्रजनन और अचेतन

प्रजनन की क्रिया कुछ यन्त्र के काम की भाँति नहीं है। आरंभिक काल में कोषों के विभजन से प्रजनन का जैसा सजीव कार्य होता था, वैसा ही सजीव अब भी होता है—अर्थात् वह बुद्धि और इच्छा पर निर्भर रहता है। किन्तु यह सोचना असम्भव है कि जीवन का काम नितान्त निर्जीव कल की भाँति होता है। हाँ, यह सच है कि मूलीभूत बातें हमारी वर्तमान जागृति से इतनी दूर जा पड़ी हैं कि वे मनुष्य की या पशु की इच्छा के अधीन नहीं मालूम होतीं; किन्तु एक क्षण के बाद ही हमें विदित हो जाता है कि जिस प्रकार एक पुष्ट शरीरवाले पुरुष की सभी बाह्य क्रियाओं का नियंत्रण उसकी इच्छा-शक्ति करती है, और उसका काम ही यही है, उसी प्रकार शरीर के क्रमशः होते हुए सङ्गठन के ऊपर भी इच्छा

शक्ति का कुछ अधिकार अवश्य होना चाहिये। मनोवैज्ञानिकों ने उनका नाम असंकल्प रक्खा है। यह हमारे नित्य नैमित्तिक विचारों से दूर होते हुए भी, हमारा ही एक विशेष अङ्ग हैं। यह अपने काम में इतना जागरुक और सावधान रहता है कि हमारा चैतन्य कभी-कभी सुप्तावस्था में पड़ जाता है, किन्तु वह एक क्षण के लिये भी नहीं सोता! हमारे असंकल्प और अविनश्वर अंश की जो प्राय: अपूर्व हानि शरीर-सुख के लिये किये गये विषय-भोग से होती है, उसका अनुमान कौन लगा सकता है? प्रजनन का फल मृत्यु है। विषय-सम्भोग पुरुष के लिये प्राणघातक है और प्रसूति के कारण स्त्री के लिये भी वैसा ही है।

तब अचेतन ही वह जीव-शक्ति है जो प्रजनन की कठिन क्रियाओं का संचालन करती है। इसका पहला काम गर्भस्थित जीव-पिण्ड को अन्य दूसरे कोषों से अलग करना है। इसके वाद से जीव-पिण्ड को वह मौत तक मूल शुक्र-कोषों को अपने में लेकर और उनको अपने-अपने अङ्गों में भेजकर जीवित रखता है।

यहाँ, कई नामी मानस-शास्त्रियों से मैं विरुद्ध जाता मालूम होऊँगा, किन्तु मेरी समझ में अचेतन का सम्बन्ध केवल व्यक्ति से रहता है न कि जाति से, अर्थात् उसका पहला काम है प्रजनन, केवल एक प्रकार से कहा जा सकता है कि अचेतन का सम्बन्ध जाति से होता है। जहाँ तक अचेतन व्यक्ति की उन्नति कर सका है, उसे जैसा वना सका है, वैसा ही वनाये रखना चाहता है। किन्तु वह असम्भव को तो सम्भव कर नहीं सकता। चेतन की सहायता से भी शरीरधारी का जीवन सदैव के लिये वह वनाये रख नहीं सकता। इसलिये सम्भोग की प्रवृति या इच्छा के द्वारा वह अपने आपको पैदा करना चाहता है। यहाँ पर चेतन और अचेतन मिल गये-से कहे जा सकते हैं। सम्भोग से साधारणतया

जो आनन्द मिलता है, उसे व्यक्ति के सुख के अतिरिक्त किसी दूसरे हेतु की पूर्ति कहा जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति नहीं जानता कि उसे कितना अधिक मूल्य देना पड़ता है।

जनन और मृत्यु

इस लेख में विशेषज्ञों के लेखों से उद्धरण देना तो ठीक नहीं है, किन्तु विषय के महत्व और साधारण अज्ञान के कारण मुझे विवश होकर कुछ प्रामाणिक उद्धरण देने ही पड़ते हैं। एक कोषीय जीवों के सम्बन्ध में श्री 'रे लैंकेस्टर' लिखते हैं—"इनमें शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाने से वंश-विस्तार होता जाता है; और इस प्रकार के जीवों में स्वाभाविक मृत्यु को कोई स्थान ही नहीं है।"

श्री 'वाइसमैन' लिखते हैं—"प्राकृतिक मृत्यु तो केवल बहु-कोषीय जीवों में ही होती है। एक कोषीय जीव उनसे बच जाते हैं। उनके विकास का कभी अन्त नहीं होता, जिसका मिलान हम मृत्यु से कर सकें, और न नई देह बनने का अर्थ है पुरानी का मरना। टुकड़े होने में दोनों ही समान वय के हैं, न कोई पुराना है न कोई नया। इस प्रकार एक-एक जीव की अनन्त श्रेणी चलती है, जिनमें प्रत्येक उतना ही पुराना होता है, जितनी कि जाति और हर एक को अनन्त काल तक जीते रहने की शक्ति होती है, उसके टुकड़े सदैव होते जाते हैं, किन्तु वह कभी मरता नहीं है।"

श्री 'पेट्रिक गिडिस' लिखते हैं:—"यों हम कह सकते हैं कि नये शरीर का मूल्य मृत्यु है। नया शरीर के पाने का मूल्य कभी न कभी मौत के रूप में देना ही पड़ता है। कार्य-भेद से जिनमें स्वरूप का भेद है, ऐसे कोषों के पुञ्ज को शरीर कहते हैं। ऐसे शरीर का नाश अवश्यम्भावी है। ×—"इस प्रकार शरीर तो कुछ सीमा तक जीवन के सच्चे आधार—शुक्रकोषों—को ढोने वाला वाहन-भर मालूम पड़ता है।"

श्री 'रे लैंकेस्टर' कहते हैं:—"बहुकोषीय जीवों में शरीर के और अङ्गों से कुछ कोष अलग हो जाते हैं। × × ऊँची श्रेणी के जीवधारियों के शरीर, जो मरणशील होते हैं, इस दृष्टि से निहायत अनावश्यक और क्षणिक माने जा सकते हैं, जिनका काम है, अपने से अधिक महत्वपूर्ण और अमर संयोग कलों या शुक्र-कीटों को केवल कुछ दिनों के लिये ढोते भर रहना।"

किन्तु हमारे सामने सबसे अधिक आश्चर्यजनक और महत्व-पूर्ण बात तो है, ऊँची श्रेणी के जीवों में सन्तानोत्पत्ति और मृत्यु में घनिष्ट सम्बन्ध का होना। इस विषय पर कितने ही वैज्ञानिक खूब स्पष्टता से लिखते भी हैं।

प्रजोत्पत्ति का बदला मौत है।

कई जाति के जीवों में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है, जिनमें वंश-वृद्धि में ही माता या पिता को प्रायः जान से हाथ धोना पड़ता है। सन्तानोत्पत्ति के बाद भी जीना तो जीवन की विजय है, जो सदैव नहीं होती और किसी-किसी जाति में तो कभी नहीं। मौत पर अपने लेख में महाकवि 'गेटे' ने खूब ही दिखलाया है कि प्रजोत्पत्ति और मौत का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है, और होना ही चाहिए। हम दोनों को ही मौत को बुलाने वाली क्रियाएँ कह सकते हैं। श्री 'पैट्रिक गिडिस' इस विषय पर लिखते हैं:—"मौत और वल्दियत का गाढ़ा सरोकार है, किन्तु साधारणतया इसे दूसरे ढंग से कहा जाता है। लोग कहते हैं कि जीवों को मर जाना है, इसलिये उन्हें बच्चे पैदा करने ही होंगे, नहीं तो जाति का अन्त हो जायगा। किन्तु पिछली बातों पर इतना जोर देना तो पीछे की खोज है। सच्ची बात तो यह है कि बच्चे इसलिये पैदा नहीं किये जाते, वरन् जीव इसलिये मरते हैं कि वे बच्चे पैदा करते हैं।"

श्री गेटे ने संक्षेप में ही कहा है:—"मौत होगी ही, इसलिये बच्चे पैदा करना आवश्यक नहीं है, वरन् संतानोत्पादन का अवश्यम्भावी फल ही मृत्यु है।"

कितने ही उदाहरण देने के बाद श्री 'गिडिस' इन महत्त्वपूर्ण शब्दों से अपना लेख समाप्त करते हैं:—"उच्च श्रेणी के जीवों में वंशोत्पत्ति के लिये आत्म-त्याग से मौत तो बहुत घट गई है, किन्तु तो भी मनुष्यों में भी कामोपभोग का फल-स्वरूप प्राणान्त हो सकता है। यह तो सभी कोई जानते हैं कि संयत भोगविलास से भी शरीर कुछ दिनों के लिये खाली होजाता है और शारीरिक शक्तियों के घटने पर सभी रोगों का होना अधिक संभव हो जाता है।"

थोड़े में इस चर्चा का सारांश देकर इसे यों समाप्त किया जा सकता है कि मनुष्यों में संभोग से पुरुष की मृत्यु अवश्य निकट आती है, और बच्चे पैदा करने व उन्हें पालने-पोसने में स्त्री की भी।

ऐयाशी से शरीर पर पड़नेवाले प्रभावों पर पूरा एक अध्याय ही लिखा जा सकता है। अखण्ड या प्रायः पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों के लिये सबलता, पूर्णायु, जीवन-शक्ति, रोगों से रक्षा तो स्वभाविक बात होती है। इसका एक प्रमाण यह है कि निर्बल मनुष्यों के बहुत से रोग कृत्रिम रूप से सुई के द्वारा शुक्र को रुधिर में पहुँचाने से छूट जाते हैं।

लेख के इस भाग में दिये गये निष्कर्षों को स्वीकार करने में भले ही कई पाठकों को हिचकिचाहट हो सकती है। इसपर कई आदमी दिखलाने लगेंगे कि 'ये बड़े बूढ़े लोग' जिनके कई एक लड़के हुए अब भी स्वस्थ और सबल हैं। और फिर यह देखिये कि अविवाहितों से विवाहित ही अधिक दिन जीते हैं। किन्तु इसके सामने इन युक्तियों की कोई पहुँच नहीं है, क्योंकि विज्ञान की दृष्टि में मृत्यु केवल जीवन के अन्त का ही नाम नहीं है, वरन्

मौत एक क्रिया है जो जन्म से ही आरम्भ होकर जीवन-रूपी क्रिया के साथ-साथ आजीवन क्षण-क्षण चालू रहती है। शरीर का पोषण करनेवाली जीवनी-शक्ति और शरीर को क्षीण करनेवाली विनाश-शक्ति दोनों ही जीवन-मरण की एकत्र रहनेवाली विभूतियाँ हैं। बचपन और यौवन में पहली शक्ति अर्थात् जीवन-क्रिया बढ़ती पर रहती है; प्रौढ़ावस्था में दोनों क्रियायें बराबरी से साथ-साथ चलती रहती हैं, और जीवन के पिछले हिस्से अर्थात् बुढ़ापे में दिनों-दिन मौत की क्रियायें बढ़ती जाती हैं और अन्त में प्राणान्त के साथ बाजी मार ले जाती हैं। अब मृत्यु की इस विजय की घड़ी को जो कोई क्रिया थोड़ी ही निकट लावे, एक क्षण, एक दिन, एक वर्ष या कई वर्ष, वह मौत की क्रिया का ही एक अङ्ग गिनी जायगी। और विषय-भोग ऐसी ही क्रिया है, मुख्यकर जब वह बहुत अधिक किया जाय।

मैं केवल इसी बातपर जोर देना चाहता हूँ कि मौत एक मुख्य घटना ही नहीं है, वरन् एक निरंतर चालू क्रिया की परिणति इसका अंतिम परिणाम है। जिन्हें अब भी संदेह हो, वे ये किताबें देखें—

The Problem of Age, Growth and Death by Charles S. Minot [1908, John Murray] and Regeneration, The Gate of Heaven by Dr. Kemeeth Sylvan Guthrie [Bostam The Barta Press.]

मानस

जनन और प्रजनन की विरोधी शक्तियाँ शरीर को टिकाये रहती हैं, इसका पता शरीर के उच्च अंगों, जैसे, मुख्य कर मानस (मस्तिष्क और ज्ञान-तन्तु-जाल) के कामों का विचार करने से चलता है। दोनों स्नायुमंडल—ज्ञान-तन्तु-जाल तथा आज्ञा-वाहक दूसरे सभी अंगों के समान जीवन के मूल-स्थान से लिये गये, किसी समय के, मूल-कोषों से बने हैं। सारे शरीर में उनकी अरोक

धारा बहती रहती है और अधिकतर दिमाग़ में तो बहुत बड़ी मात्रा में। इसलिये संतानोत्पादन के लिये या आनन्द के लिये हो, उन कोषों की इस ऊर्ध्व गति को रोकने से उन अङ्गों के जीवन का कोष चुकने लगता है और धीरे-धीरे उनकी हानि ही होती है। इन्हीं शारीरिक हकीकतों के आधार पर व्यक्तिगत संभोग-नीति बनती है, और यदि अखण्ड ब्रह्मचर्य नहीं, तो कम-से-कम संयम की सम्मति दी जाती है।

इस सम्बन्ध में एक उदाहरण लीजिए। हिन्दू-धर्म और सामाजिक जीवन से जो लोग कुछ भी परिचित हैं, वे जानते हैं कि हिन्दू लोग पहले तपस्या करते थे, और अब भी कुछ लोग करते ही हैं। इसके दो उद्देश्य होते हैं। एक तो शरीर को निभाना और उसकी शक्तियाँ बढ़ाना और दूसरा कुछ अलौकिक मानसिक शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ प्राप्त करना है। पहले का नाम हठयोग है, इसकी साधना एकमात्र शारीरिक संपूर्ति के लिये बहुत अधिक की जाती है। दूसरे को राजयोग कहते हैं इसका अभ्यास मानसिक तथा योग-सम्बन्धी उन्नतियों के लिये किया जाता है। तो भी इन दोनों ही योगों में एक बात समान है, और वह है शरीर-सम्बन्धी। यह बात पातंजल के योग-दर्शन में दी हुई है।

पंचक्लेशों में 'राग' तीसरा क्लेश है (३-२)। सुखानुशयी रागः ॥७-२॥ 'राग' कहते हैं, सुख भोगने के बाद जो इच्छा सुख भोगनेवाले में छा जाती है, और फिर से वह सुख न मिलने पर जो संताप होता है, उस इच्छा को—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति—
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥ २ पाद।

और सुख में दुःख मिला हुआ है, इसलिये विवेकियों को उसका त्याग करना चाहिए।

यहाँ तक तो योगदर्शन में कामवासना का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया गया है। इसके पश्चात् शारीरिक दृष्टि से आगे के सूत्रों में विचार किया गया है।

योगाभ्यास की पहली सीढ़ी यमों की साधना है और यम पाँच हैं:—अहिंसासत्यऽस्तेयब्रह्मचर्यऽपरिग्रह् यमाः ॥३०॥ २ पाद।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि अपने को योगी कहनेवाले बकवादी चौथे यम को या तो जानते ही नहीं, या उसे बतलाते ही नहीं। चौथा यम ब्रह्मचर्य है।

पतंजलि मुनि के अनुसार ब्रह्मचर्य की साधना से बहुत बड़े लाभ होते हैं:—ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥ २ पाद।

अर्थात् जो ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित है, उसे वीर्य या शक्ति-लाभ होता है। उसे भांति-भांति की सिद्धियाँ हस्तगत होती हैं।

श्रीयुत मणिलाल न० द्विवेदी कहते हैं:—"यह तो शरीर-शास्त्र का सामान्य नियम है कि बुद्धि के साथ शुक्र का सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है और हम कहेंगे कि आध्यात्मिकता के साथ भी है। इस अमूल्य वस्तु का संचय करने से मनुष्य को शक्ति मिलती है, वह सच्ची आध्यात्मिक शक्ति मिलती है, जिसे मनुष्य चाहता है। पहले इस नियम का अवश्य ही पालन किये बिना कोई योग सफल नहीं होता।"

यह भी कह देना चाहिए कि ब्रह्मचर्य पालन की क्रिया तथा उद्देश्य शास्त्री और तांत्रिक रूप से भाष्यों में छिपे हुए दिये जाते हैं। जैसे कि कहा जाता है कि सर्प के समान शक्ति सबसे निचले चक्र (अण्ड-कोष) से चढ़कर सबके ऊँचे चक्र (मस्तिष्क) में जाती है।

व्यक्तिगत संभोग-नीति

साधारणतः व्यक्तियों, समाजों या जातियों के अनुभवों द्वारा नीतिशास्त्र की रचना होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर विदित

होता है कि किसी-न-किसी बड़े बहुमान्य पुरुष ने नीति के नियम बताये हैं। मूसा, बुद्ध, कन्फ्यूसियस, सुकरात, अरस्तू, ईसा और उनके बाद के दूसरे महापुरुषों और दार्शनिकों ने अपने-अपने देश और काल मनुष्य-आचार की कुछ कसौटी अवश्य रक्खी थी।

इससे हम देख सकते हैं कि सर्वमान्य नीति-शास्त्र का आधार दर्शनशास्त्र, मानसशास्त्र, शरीर-विज्ञान, और समाज-शास्त्र के ऊपर रहता है। ये सब शास्त्र मिल करके वास्तविक या काल्पनिक मसाले दे देते हैं, जिसके ऊपर से कई सिद्धान्त अपने आप स्वयं-सिद्ध से निकल पड़ते हैं। उन्हीं सिद्धान्तों का संग्रह नीतिशास्त्र है।

इसलिये किसी एक युग या सभ्यता की व्यक्तिगत संभोग-नीति उसी बात के आधार पर बनेगी, जिसका उस समय के लोगों पर, उनके अपने अनुभवों में अधिक से अधिक प्रभाव पड़ा होगा। यद्यपि सामाजिक संभोग-नीति के समान यह व्यक्तिगत संभोग-नीति भी समय-समय पर बदलती रहती है, तो भी इन दोनों में ही कुछ ऐसी स्थिर बातें हैं जो कि थोड़ी या बहुत स्थायी होती हैं।

इस युग के लिये संभोग-नीति को निश्चित करते समय हमको आजतक की मालूम सभी बातों तथा संभवताओं का ध्यान रखना और विशेषकर वैसी वस्तुओं पर ध्यान देना होगा, जिनका समर्थन योग्य विद्वान् करते हैं। यदि मैं यह कहूँ कि मेरे लेख के पहले पाँच विभागों में दिखलाई गई वास्तविकताओं पर ध्यान देते ही किसी भी बुद्धिमान् और ईमानदार पाठक के मन में कई तर्क-सिद्ध और अनिवार्य परिणाम आयँगे ही, तो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य की दृष्टि से जान पड़ेगा कि इन वास्तविकताओं का एक ही परिणाम है और वह है ब्रह्मचर्य का पालन। किन्तु इसके विरुद्ध हमें एक दूसरा प्राकृतिक नियम भी शीघ्र ही मिल जाता है। पहला नियम है, प्राकृतिक उत्तेजना अर्थात् काम-

वासना का और दूसरा और नया नियम है, ज्ञान के, विज्ञान के, विश्वास के और आदर्श आधार पर निकले हुए ब्रह्मचर्य का। पहले नियम अर्थात् कामवासना की पूर्ति करने से बहुत शीघ्र ही बुढ़ापा और मृत्यु आती है, किन्तु नियम-पालन के मार्ग में इतनी बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ पड़ी हुई हैं कि कदाचित् ही कोई उस की ओर ध्यान देता हो। लोग इस बात पर विश्वास करने को तैयार ही नहीं होते। वे तुरत ही कहने लगते हैं–'मगर' लेकिन–?' यहाँ यह बात विचारने योग्य है कि योगियों और भिक्षुओं के लिये संयम-नियम के जो कठिन नियम बनाये गये थे, उनका आधार केवल अंधश्रद्धा या पौराणिक गपोड़े ही नहीं हैं किन्तु इस लेख में बतलाई गई शरीर-शास्त्र की बातों का विशिष्ट ज्ञान है।

मेरे जानते काउण्ट टाल्सटॉय से अधिक जोरों से या स्पष्ट ढंग से किसी दूसरे आधुनिक लेखक ने संभोग-नीति को नहीं बतलाया है। मैं उनके कुछ विचार नीचे देता हूँ:—

१०२. अपनी जाति को स्थिर रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति —अर्थात् काम वासना–मनुष्य में स्वभाव से ही रहती है। अपनी पशुता की दशा में वह इस इच्छा की पूर्ति करके अपना काम पूरा करता है और इससे भलाई होती है।

१०३. किन्तु ज्ञान का उदय होते ही उसे जान पड़ने लगता है कि इस वासना की पूर्ति करने से केवल उसकी अलग कुछ भलाई होगी, और वह अपनी जाति को स्थिर रखने की इच्छा से नहीं, किन्तु केवल अपनी भलाई करने की इच्छा से विषय करने लगता है। यही विषय-सम्बन्धी पाप है।*

* पाठकों को यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि टाल्सटॉय की पाप की परिभाषा सामान्य परिभाषा से अलग है। वह पाप उसको कहता था, जो प्रेम के प्रदर्शन में अर्थात् सबके प्रति शुभ कामना के मार्ग में बाधक हो।

१०७. पहली दशा में जब कि कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना और अपनी सारी शक्तियों को परमात्मा की सेवा में लगाना चाहता हो, तब उसके लिये प्रजोत्पादन के हेतु से भी संभोग करना पाप होगा। जिसने अपने लिये ब्रह्मचर्य का मार्ग चुना है, उसके लिये विवाह भी स्वभाव से ही एक पाप होगा।

११३. जिसने ब्रह्मचर्य का मार्ग चुना है, उसके लिये विवाह करने में यह पाप है कि यदि वह विवाह न करता, तो संभव था कि किसी सबसे बड़े काम को चुनता, ईश्वर की ही सेवा में अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता या प्रेम के प्रचार और सबसे बड़े मंगल की प्राप्ति में अपनी शक्ति लगा देता, किन्तु विवाह करने से वह नीचे उतर आता है और अपना मंगल-साधन नहीं कर पाता।

११४. जिसने वंश-रक्षा का मार्ग पकड़ा है, उसके लिये यह पाप है कि प्रजोत्पादन न करने से या कौटुम्बिक सम्बन्ध न पैदा करने से वह दाम्पत्य-जीवन के सबसे बड़े सुख से अपने को वंचित रखता है।

११५. इसके अतिरिक्त और सभी सुखों के समान जो लोग संभोग के सुख को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, वे जितना ही अधिक काम-लालसा को बढ़ाते हैं, उतना ही अधिक स्वाभाविक आनन्द को कम करते जाते हैं।

पाठक देखेंगे कि टाल्सटॉय का सिद्धान्त सापेक्षिक है, अर्थात् किसी के लिये परमात्मा की ही ओर से या किसी बड़े शिक्षक की ओर से पक्का नियम नहीं बना दिया गया है, किन्तु सभी को अपना अपना मार्ग चुनना है। केवल इतना ही आवश्यक है कि जिसने अपने लिये जो मार्ग चुना है, उसे उसी का पालन करना चाहिए।

ऐसी धर्म-नीति में एक के बाद एक किन्तु उतरते हुए निषेध होंगे। जो अखण्ड ब्रह्मचर्य में विश्वास करता है, किसी बड़े और ऊँचे शारीरिक तथा आध्यात्मिक लाभ के लिये जान-बूझकर

इन्द्रियसंयम करने का प्रयत्न करता है, उसके लिये किसी भी भांति के संभोग का निषेध है; जिसने विवाह कर लिया है, उसके लिये पर-पुरुष या पर-स्त्री का संग मना है। इससे आगे बढ़कर यदि अविवाहितों के लिये, जिनका अनियमित संभोग चलता है, वेश्या-गमन जैसा जघन्य काम निषिद्ध है तो स्वाभाविक कर्म करनेवाले के लिये अप्राकृतिक कर्म बहुत ही बुरा है। इससे भी आगे चलकर यदि किसी प्रकार के ब्रह्मचर्य करनेवालों के लिये उसमें अतिशयता करनी बुरी गिनी जायगी, तो नवयुवकों, बच्चों के लिये अब्रह्मचर्य केवल स्थगित ही है। संभोग-नीति का यही स्वरूप है।

मैं इसकी कल्पना कर ही नहीं सकता कि कहीं ऐसे आदमी भी मिलेंगे जो इस सामान्य सम्भोग-नीति को समझ न सकें, और ऐसे थोड़े ही आदमी मिलेंगे जो गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के बाद भी इसका विरोध करें। किन्तु फिर भी ऐसी नीति का विरोध वाग्जाल या तर्कजाल से करने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। बहुत-से लोग मान बैठते हैं कि चूँकि ब्रह्मचर्य का पालन करना कठिन है और विरला ही कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कभी देखने में आता हो, इसलिये ब्रह्मचर्य का समर्थन करना ही अनुचित है। ऐसी युक्ति उपस्थित करनेवालों को तो तर्क के अनुसार अपने ही पति या पत्नी से सन्तुष्ट रहने—जो कि कुछ लोगों के लिये कठिन काम होता है, या दम्पत्ति के बीच भी काम-तृप्ति की अति न करने या केवल प्राकृतिक कर्म ही करने—आदि बातों का भी विरोध करना चाहिए। वे यदि एक आदर्श का विरोध करते हैं, तो वे सभी आदर्शों का विरोध करेंगे और हमें बुरे-से-बुरे पापों और काम-लालसाओं के गड्ढे में डालकर ही दम लेंगे। भला वे ऐसा क्यों न करेंगे? सच पूछो तो एकमात्र सच्चा और तार्किक नियम यह है कि हम अपने आदर्श के ध्रुवतारे को देखते

हुए चलें, जो कि हमें सभी भूलभुलैयों से निकालकर, विरोधी नियमों का दल तोड़कर सीधे मार्ग पर ले जायगा। इस भांति समझ-बूझकर स्वेच्छा-पूर्वक इस नीति के अनुसार आचरण करनेवाले से यह आशा रक्खी जा सकती है कि युवापन के अप्राकृतिक कर्मों से कहीं ऊँचे उठकर वह प्राकृतिक आचरण, चाहे वह भले ही अनियमित हों, करने लगेगा। इस स्थिति में से भी निकलकर वह दाम्पत्य धर्म के संयम-नियम में बँध सकता है और अपने तथा अपनी सहधर्मिणी के लिये जहाँ तक वह कर सके, संयम का पालन कर सकता है। यह नीति सम्भवतः उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी तक बना सकती था और नहीं तो अतिशयता के गड्ढे में गिरने से बहुत कुछ रोक ले सकती है।

सामाजिक सम्भोग नीति

जैसे कि व्यक्तियों की समष्टि का नाम समाज है, ठीक उसी प्रकार व्यक्तिगत सम्भोग-नीति से ही सामाजिक सम्भोग-नीति पैदा होती है। दूसरे-शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि व्यक्तिगत सम्भोग-नीति में समाज कुछ वृद्धि करता है, कुछ मर्यादा जोड़ता है। इसका मुख्य उदाहरण विवाह-संस्था है। विद्वान् वैज्ञानिक ने विवाह के इतिहास पर बहुत कुछ लिखा है और इस सम्बन्ध में बहुत अधिक मसाला संग्रह किया गया है। इसलिये आजकल विवाह-संस्था में जो परिवर्तन सुझाये जा रहे हैं, उनका उल्लेख कर सकने के लिये, उपर्युक्त विद्वानों के निष्कर्षों का केवल सारांश मात्र दिया जायगा।

मनुष्य-जाति में प्रजोत्पादन के सम्बन्ध में माता का महत्व पिता से अधिक है। माता को ही लेकर कुटुम्ब की रचना होती है। फलतः एक समय में मातृ-वंश अर्थात् माता के ही शासन की विधि प्रचलित थी और इसीलिये बहुपति-विवाह अथवा एक

स्त्री के कई पति होने की प्रथा भी आरम्भ हुई थी। एशिया की कुछ आरम्भिक जातियों में अब भी इस प्रथा के अवशिष्ट चिह्न पाये जाते हैं। कई पतियों में से जो सबसे बलवान और रक्षा करने में समर्थ होता था, धीरे-धीरे उसका औरों से विशेष सम्मान होने लगता और समय पाकर वह जिस पद पर प्रतिष्ठित होता, उसी का विकास होकर पति का पद पाता था। माता के साथ जिन कई मनुष्यों का सम्बन्ध रहता था, उनमें जो सबसे अधिक बलशाली, सुन्दर और सशक्त होता उसे दूसरों से कुछ ऊँचा पद दिया जाता। अँग्रेजी भाषा में पति या गृहपति के लिये 'हसबैंड' (Husband) शब्द प्रचलित है। हसबैंड का मूल है Husbucndi, जिसका अर्थ होता है, घर में रहनेवाला। इसी एक शब्द में विवाह-संस्था का बहुत कुछ इतिहास भरा हुआ है। सभी पतियों में से जो पत्नी के साथ उसके घर पर रहता था, वह धीरे-धीरे गृहपति या हसबैंड कहलाने लगा। क्रमशः वह गृह का स्वामी बन गया और ऐसा ही कोई 'हसबैंड' जाति का सर्दार और राजा बना। पुरुषों का शासन आरम्भ होते ही बहुपत्नीत्व की प्रथा चल पड़ी, जैसे कि स्त्रियों के राज्य में बहुपतित्व की चली थी।

इस कारण, यदि सामाजिक रूप में नहीं तो अपने स्वभाव से ही स्त्री बहुपतित्व की और पुरुष बहुपत्नीत्व की प्रथा को पसन्द करनेवाला होता है। पुरुष अपनी इच्छाएँ सभी ओर दौड़ाकर प्रायः अत्यन्त सुन्दरी स्त्री को ही पसन्द करता है। स्त्री भी वही करती है। किन्तु यदि स्त्री-पुरुषों की अनियमित, स्वाभाविक और मानसिक वासनाओं पर कोई लगाम न लगती, तो क्या प्राचीन और क्या आधुनिक, मनुष्य-समाज का नाश निश्चय ही हो जाता। मनुष्य से नीचे के और सभी पशुओं में इन सब इच्छाओं की अतिशयता है। समाज ने विवाह के रूप में यह नियंत्रण शोधा

और अन्त में एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री के साथ विवाह का नियम प्रचलित हुआ। इसका एक ही विकल्प है और वह है स्त्री-पुरुषों का अनियमित मिलन। ऐसी अनियमितता के प्रचार से मनुष्य-समाज का और कम-से-कम आधुनिक समाज का नाश निश्चित है। इस विवाह-रूपी अंकुश और अनियमितता के बीच हम सरलता से ही संग्राम देख सकते हैं। वेश्या-गमन, और विधान-रहित मिलन, व्यभिचार और विच्छेदों से नित्य-प्रति यही सिद्ध होता है कि पुराने और आरंभिक सम्बंधों से अधिक पक्की जड़, अभी तक विवाह-संस्था नहीं जमा सकी है। क्या कभी वह जमा सकेगी?

इसी बीच हमें एक और उपाय पर विचार करना आवश्यक है, जो कि गुप्तरूप से बहुत दिनों से प्रचलित रहा है, किन्तु थोड़े दिनों में ही जिसने निर्लज्जता से सिर उठाना आरम्भ किया है। वह है, संतति-निरोध। इसका ढंग है ऐसी औषधियों या यंत्रों का प्रयोग करना जिनसे गर्भाधान न होने पावे। गर्भाधान होने से स्त्री पर जो भार पड़ता है, उसके अतिरिक्त भी पुरुष को और विशेष कर दयालु पुरुष को पर्याप्त समय तक संयम रखना पड़ता है। संतति-निरोध से तो आत्मसंयम करने की कोई मसलहत ही नहीं रह जाती, और जब तक इच्छा ही कम न हो जाय या इन्द्रियाँ शिथिल न हो जायँ, तब तक कामवासना को तृप्त करते जाना संभव हो जाता है। अस्तु, इसके अतिरिक्त भी, पर-स्त्री के साथ सम्बन्ध पर इसका प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। अनियमित, अनियंत्रित, और सन्तान-हीन संभोग के लिये यह द्वार खोल देता है, जो कि आधुनिक उद्योगों, समाज-शास्त्र तथा राजनीति की दृष्टि से भयानक है। मैं इन बातों पर यहाँ विचार नहीं कर सकता। इतना ही कहना पर्याप्त है कि संतति-निरोध के कृत्रिम उपायों से स्वपत्नी और पर-स्त्री, दोनों के साथ अतिशय संभोग की सुविधा

हो ज... ... मेरा शरीर-शास्त्र-स... ी युक्तियाँ ठीक हैं, तो इससे समाज और व्यक्ति दोनों का अकल्याण होना ध्रुव है।

उपसंहार

खेत में डाले हुए बीज के समान यह लेख भी कुछ ऐसे लोगों के हाथ में पड़ेगा जो कि इससे घृणा करेंगे, और कुछ ऐसों की भी दृष्टि पड़ेगा जो केवल आलस्य या अयोग्यता के कारण इसे समझ न सकेंगे। जो लोग इसमें बतलाये विचारों को पहले-पहल सुनेंगे उनमें इसके प्रति विरोध-बुद्धि उत्पन्न होगी, क्रोध तक भी उत्पन्न होगा; और बहुत ही थोड़े मनुष्यों को यह सच्चा और उपयोगी जान पड़ेगा। और उनके हृदयों में भी शंकाएँ तथा सन्देह उठेंगे। सबसे भोले-भाले व्यक्ति कह उठेंगे—"आपकी सम्मति में तो किसी दशा में विषयभोग करना ही नहीं चाहिए। अजी, तब तो सृष्टि का ही लय हो जायगा। इसलिये आपके विचार अवश्य ही ठीक न होने चाहिएँ।" मेरा उत्तर यह है कि मेरे पास कोई ऐसा भयानक रसायन है ही नहीं। ब्रह्मचर्य का पालन करने के प्रयत्न से जितनी जल्दी सृष्टि का लय होगा उससे कहीं अधिक तीव्रता से सन्तति-निरोध के उपाय पृथ्वी को मनुष्यों के भार से हलका कर देंगे। सन्तान को जन्म लेने से रोकने का सबसे शक्तिशाली यत्न संतति-निरोध का ही है। मेरा हेतु बहुत सीधा-साधा है। अज्ञान और स्वच्छन्दता के उत्तर के रूप में कुछ दार्शनिक और वैज्ञानिक सत्यों को रखकर मैं इस युग के लोगों में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को शुद्ध करने में सहायता देना चाहता हूँ।

Printed by H. P. Khattri at the Vanijya Press, Nichibag, Benares.